आगम संस्थान ग्रन्थमाला : ७

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

समियाए धम्मे आरिएहिं पव्वइये

महापच्चक्खाण पइण्णयं

(महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक)

सुरेश सिसोदिया

सव्वत्थेसु समं चरे
सव्वं जगं तु समयाणुपेही
पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा
सम्मत्तदंसी न करेइ पावं
सम्मत्त दिट्ठि सया अमूढे
समियाए मुनि होइ

294.482
पुण्य-म

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

आगम संस्थान ग्रन्थमाला : ७

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

महापच्चक्खाणपइण्णयं

(महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक)

(मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित मूलपाठ)

अनुवादक
सुरेश सिसोदिया

सह शोध अधिकारी
आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर (राज०)

भूमिका
प्रो० सागरमल जैन
सुरेश सिसोदिया

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

प्रकाशकीय

अर्द्धमागधी जैन आगम-साहित्य भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य निधि है। दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों के अनुवाद उपलब्ध न होने के कारण जनसाधारण और विद्वद्वर्ग दोनों ही इनसे अपरिचित हैं। आगम ग्रन्थों में अनेक प्रकीर्णक प्राचीन और अध्यात्मप्रधान होते हुए भी अप्राप्त से रहे हैं। यह हमारा सौभाग्य है कि पूज्य मुनि श्री पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित इन प्रकीर्णक ग्रन्थों के मूलपाठ का प्रकाशन श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई से हो चुका है, किन्तु अनुवाद के अभाव में जनसाधारण के लिए ये ग्राह्य नहीं बन सके। इसी कारण जैन विद्या के विद्वानों की समन्वय समिति ने अनुदित आगम ग्रन्थों और आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद के प्रकाशन को प्राथमिकता देने का निर्णय लिया और इसी सन्दर्भ में प्रकीर्णकों के अनुवाद का कार्य आगम संस्थान को दिया गया। संस्थान द्वारा अब तक देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक एवं चन्द्रवेध्यक नामक तीन प्रकीर्णक अनुवाद सहित प्रकाशित किये जा चुके हैं।

हमें प्रसन्नता है कि संस्थान के सह शोध अधिकारी श्री सुरेश सिसोदिया ने 'महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक' का अनुवाद सम्पूर्ण किया। प्रस्तुत ग्रन्थ की सुविस्तृत एवं विचारपूर्ण भूमिका संस्थान के मानद् निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन एवं श्री सुरेश सिसोदिया ने लिखकर ग्रन्थ को पूर्णता प्रदान की है, इस हेतु हम उनके कृतज्ञ है।

हम संथान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानी, मानद् सह निदेशिका डॉ० सुषमा जी सिंघवी एवं मन्त्री श्री वीरेन्द्र सिंह जी लोढा के भी आभारी है, जो संस्थान के विकास में हर सम्भव सहयोग एवं मार्गदर्शन दे रहे हैं। डॉ० सुभाष कोठारी भी संस्थान की प्रकीर्णक अनुवाद योजना में संलग्न है अतः उनके प्रति भी आभारी हैं।

प्रकाशन की इस वेला में हम पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के पदाधिकारियों के प्रति भी आभार प्रकट करते हैं, जिन्होंने प्रस्तुत पुस्तक के वाराणसी मुद्रण के दौरान पर्याप्त सुविधा प्रदान कर सहयोग दिया है।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में संस्थान के पूर्व मंत्री स्वर्गीय श्री फतहलाल जी हिंगर की पुण्य स्मृति में उनके परिजनों ने दस हजार रु० का अनुदान प्रदान किया है, एतदर्थ हम उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ के सुन्दर एवं सत्वर मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय के भी आभारी हैं।

गणपतराज बोहरा
अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया
महामंत्री

प्रस्तुत प्रकाशन के अर्थ सहयोगी

स्व० श्री फतहलाल जी सा० हिंगर-उदयपुर : एक परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में स्व० श्रीमान् फतहलाल जी सा० हिंगर की पुण्य स्मृति में उनके पारिवारिक जनों ने अर्थ सहयोग प्रदान किया है।

स्व० फतहलाल जी सा० हिंगर का जन्म सन् १९१९ कार्तिक शुक्ला ६ को उदयपुर नगर में हुआ, उनके पिताजी का नाम लक्ष्मीलाल जी एवं माताजी का नाम देवकुंवर था।

आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातकीय उपाधि तकनीकी शिक्षा औद्योगिक रसायन एवं रासयनिक इंजिनियरिंग विषय लेकर प्राप्त की। आप कई भाषाएँ जानते थे एवं भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन में भी आपने सक्रिय भूमिका निभाई थी।

हैदराबाद, सिंध, पोरबंदर, भावनगर, अहमदाबाद में कार्य करने के बाद आप उदयपुर में आयुर्वेद सेवाश्रम के उपमहाप्रबन्धक के पद पर २६ वर्ष रहने के पश्चात् सेवा निवृत्त हुए।

आप एवं आपका परिवार धार्मिक संस्कारों से ओतप्रोत रहा है। आपने साधुमार्गी संघ के कई आचार्यों की निकट से सेवा का लाभ लिया था। आपके परिवार से आपकी दादीजी एवं भूवाजी ने भागवती दीक्षाएँ अंगीकार की हैं।

आप उदयपुर साधुमार्गी जैन संघ के प्रथम मन्त्री चुने गये और बाद में अध्यक्ष पद पर भी कार्य किया था। श्री गणेश जैन छात्रावास की स्थापना

में आपका महत्वपूर्ण योगदान रहा। उदयपुर में जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग तथा आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान की स्थापना आपके अथक प्रयासों का ही परिणाम है। आगम संस्थान के आप प्रारंभ से ही मंत्री रहे थे। श्री गणेश जैन छात्रावास के आप कई वर्षों तक संयोजक रहे और श्री अ० भा० सा० जैन संघ के पिछले ३ वर्षों से उपाध्यक्ष रहे थे।

आपके परिजनों में चार पुत्र एवं दो पुत्रियाँ हैं तथा समाज सेवा की कड़ी में आपके सुपुत्र लायन्स क्लब एवं कई सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं से जुड़े हुए हैं।

संस्थान श्री डूंगर सा० के योगदान के लिए सदैव आभारी रहेगा।

भूमिका

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। हिन्दुओं के लिए वेद, बौद्धों के लिए त्रिपिटक, पारसियों के लिए अवेस्ता, ईसाइयों के लिए बाइबिल और मुसलमानों के लिए कुरान का जो स्थान और महत्त्व है, वही स्थान और महत्त्व जैनों के लिए आगम साहित्य का है। यद्यपि जैन परम्परा में आगम न तो वेदों के समान अपौरुषेय माने गये हैं और न ही बाइबिल और कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का संदेश, अपितु वे उन अर्हतों एवं ऋषियों की वाणी का संकलन हैं, जिन्होंने साधना और अपनी आध्यात्मिक विशुद्धि के द्वारा सत्य का प्रकाश पाया था। यद्यपि जैन आगम साहित्य में अंग सूत्रों के प्रवक्ता तीर्थंकरों को माना जाता है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि तीर्थंकर भी मात्र अर्थ के प्रवक्ता हैं, दूसरे शब्दों में वे चिन्तन या विचार प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें शब्द रूप देकर ग्रन्थ का निर्माण गणधर अथवा अन्य प्रबुद्ध आचार्य या स्थविर करते हैं।[1]

जैन-परम्परा हिन्दू-परम्परा के समान शब्द पर उतना बल नहीं देती है। वह शब्द को विचार की अभिव्यक्ति का मात्र एक माध्यम मानती है। उसकी दृष्टि में शब्द नहीं, अर्थ (तात्पर्य) ही प्रधान है। शब्दों पर अधिक बल न देने के कारण ही जैन-परम्परा के आगम ग्रन्थों में यथाकाल भाषिक परिवर्तन होते रहे और वेदों के समान शब्द रूप में वे अक्षुण्ण नहीं बने रह सके। यही कारण है कि आगे चलकर जैन आगम-साहित्य—अर्द्धमागधी आगम-साहित्य और शौरसेनी आगम-साहित्य ऐसी दो शाखाओं में विभक्त हो गया। इनमें अर्द्धमागधी आगम-साहित्य न केवल प्राचीन है अपितु वह महावीर की मूलवाणी के निकट भी है। शौरसेनी आगम-साहित्य का विकास भी अर्द्धमागधी आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के इन्हीं आगम ग्रन्थों के आधार पर हुआ है। अतः अर्द्धमागधी आगम-साहित्य शौरसेनी आगम-साहित्य का आधार एवं उसकी अपेक्षा प्राचीन भी हैं। यद्यपि यह अर्द्धमागधी आगम-साहित्य भी

---

१. 'अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गणहरा'—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९२।

महावीर के काल से लेकर वीर निर्वाण संवत् ९८० या ९९३ की वलभी की वाचना तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में संकलित और सम्पादित होता रहा है। अतः इस अवधि में उसमें कुछ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है।

प्राचीन काल में यह अर्द्धमागधी आगम साहित्य—अंग-प्रविष्ट और अंगबाह्य ऐसे दो विभागों में विभाजित किया जाता था। अंग प्रविष्ट में ग्यारह अंग आगमों और बारहवें दृष्टिवाद को समाहित किया जाता था। जबकि अंगबाह्य में इनके अतिरिक्त वे सभी आगम ग्रन्थ समाहित किये जाते थे, जो श्रुतकेवली एवं पूर्वधर स्थविरों की रचनाएँ माने जाते थे। पुनः इस अंगबाह्य आगम-साहित्य को भी नन्दीसूत्र में आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त ऐसे दो भागों में विभाजित किया गया है। आवश्यक व्यतिरिक्त के भी पुनः कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये गये हैं। नन्दीसूत्र का यह वर्गीकरण निम्नानुसार है—

श्रुत (आगम)[1]

- अंगप्रविष्ट
  - आचारांग
  - सूत्रकृतांग
  - स्थानाङ्ग
  - समवायाङ्ग
  - व्याख्याप्रज्ञप्ति
  - ज्ञाताधर्मकथा
  - उपासकदशांग
  - अन्तकृतदशांग
  - अनुत्तरौपपातिकदशांग
  - प्रश्नव्याकरण
  - विपाकसूत्र
  - दृष्टिवाद
- अंगबाह्य
  - आवश्यक
    - सामायिक
    - चतुर्विंशतिस्तव
    - वन्दना
    - प्रतिक्रमण
    - कायोत्सर्ग
    - प्रत्याख्यान
  - आवश्यक व्यतिरिक्त

१. नन्दीसूत्र—सं० मुनि मधुकर, सूत्र ७६, ७९-८१।

कालिक		उत्कालिक	
उत्तराध्ययन	वैश्रमणोपपात	दशवैकालिक	सूर्यप्रज्ञप्ति
दशाश्रुतस्कन्ध	वेलन्धरोपपात	कल्पिकाकल्पिक	पौरुषीमंडल
कल्प	देवेन्द्रोपपात	चुल्लकल्पश्रुत	मण्डलप्रवेश
व्यवहार	उत्थानश्रुत	महाकल्पश्रुत	विद्याचरण विनिश्चय
निशीथ	समुत्थानश्रुत	औपपातिक	गणिविद्या
महानिशीथ	नागपरिज्ञापनिका	राजप्रश्नीय	ध्यानविभक्ति
ऋषिभाषित	निरयावलिका	जीवाभिगम	मरणविभक्ति
जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति	कल्पिका	प्रज्ञापना	आत्मविशोधि
द्वीपसागरप्रज्ञप्ति	कल्पावतंसिका	महाप्रज्ञापना	वीतरागश्रुत
चन्द्रप्रज्ञप्ति	पुष्पिता	प्र मादाप्रमाद	संलेखणाश्रुत
क्षुल्लिकाविमान-	पुष्पचूलिका	नन्दी	विहारकल्प
-प्रविभक्ति	वृष्णिदशा	अनुयोगद्वार	चरणविधि
महल्लिकाविमान-		देवेन्द्रस्तव	आतुरप्रत्याख्यान
-प्रविभक्ति		तन्दुलवैचारिक	महाप्रत्याख्यान
अंगचूलिका		चन्द्रवेध्यक	
वग्गचूलिका			
विवाहचूलिका			
अरुणोपपात			
वरुणोपपात			
गरुडोपपात			
धरणोपपात			

इस प्रकार हम देखते हैं कि नन्दीसूत्र में महाप्रत्याख्यान का उल्लेख अंगबाह्य, आवश्यक-व्यतिरिक्त उत्कालिक आगमों में हुआ है। पाक्षिकसूत्र में आगमों के वर्गीकरण की जो शैली अपनायी गयी है उसमें नाम और क्रम में कुछ भिन्नता है। उसमें भी महाप्रत्याख्यान को उत्कालिक आगमों में अट्ठाईसवाँ स्थान मिला है। इसके अतिरिक्त आगमों के वर्गीकरण की एक प्राचीन शैली हमें यापनीय परम्परा के शौरसेनी आगम 'मूलाचार' में भी मिलती है। मूलाचार आगमों को चार भागों में वर्गीकृत करता है[1]—(१) तीर्थंकर-कथित (२) प्रत्येकबुद्ध-

१. मूलाचार—भारतीय ज्ञानपीठ-गाथा २७७

कथित (३) श्रुतकेवली कथित और (४) पूर्वधर-कथित। पुनः मूलाचार में इन आगमिक ग्रन्थों का कालिक और उत्कालिक के रूप में वर्गीकरण किया गया है किन्तु मूलाचार में कहीं भी महाप्रत्याख्यान का नाम नहीं आया है। अतः यापनीय परम्परा इसे किस वर्ग में वर्गीकृत करती थी, यह कहना कठिन है।

वर्तमान में आगमों के अंग, उपांग, छेद, मूलसूत्र, प्रकीर्णक आदि विभाग किये जाते हैं। यह विभागीकरण हमें सर्वप्रथम विधिमार्गप्रपा (जिनप्रभ-१३वीं शताब्दी) में प्राप्त होता है।[१] सामान्यतया प्रकीर्णक का अर्थ विविध विषयों पर संकलित ग्रन्थ ही किया जाता है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है कि तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करके श्रमण प्रकीर्णकों की रचना करते थे। परम्परानुसार यह भी मान्यता है कि प्रत्येक श्रमण एक-एक प्रकीर्णक की रचना करता था। समवायांग सूत्र में "चोरासीइं पण्णग सहस्साइं पण्णत्ता" कहकर ऋषभदेव के चौरासी हजार शिष्यों के चौरासी हजार प्रकीर्णकों का उल्लेख किया है।[२] महावीर के तीर्थ में चौदह हजार साधुओं का उल्लेख प्राप्त होता है। अतः उनके तीर्थ में प्रकीर्णकों की संख्या भी चौदह हजार मानी गयी है। किन्तु आज प्रकीर्णकों की संख्या दस मानी जाती है।

ये दस प्रकीर्णक निम्न हैं—

(१) चतुःशरण (२) आतुर प्रत्याख्यान (३) संस्तारक (४) चन्द्रवेध्यक (५) गच्छाचार (६) तन्दुलवैचारिक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) मरण विधि।

मुनि पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित पइण्णयसुत्ताइं में दस प्रकीर्णकों के नाम निम्नानुसार हैं[३]—

(१) चतुःशरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्तारक (५) तन्दुलवैचारिक (६) चन्द्रवेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) वीरस्तव

दस प्रकीर्णकों को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय आगमों की श्रेणी में मानता है। परन्तु प्रकीर्णक नाम से अभिहित इन ग्रन्थों का संग्रह किया जाय तो निम्न बाईस नाम प्राप्त होते हैं—

---

१. विधिमार्गप्रपा—पृष्ठ ५५।

२. समवायांग सूत्र—मुनि मधुकर–८४वाँ समवाय।

३. पइण्णयसुत्ताइं, प्रस्तावना पृष्ठ २०।

(१) चतुःशरण (२) आतुरप्रत्याख्यान (३) भक्तपरिज्ञा (४) संस्तारक (५) तंदुलवैचारिक (६) चन्द्रावेध्यक (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या (९) महाप्रत्याख्यान (१०) वीरस्तव (११) ऋषिभाषित (१२) अजीवकल्प (१३) गच्छाचार (१४) मरणसमाधि (१५) तित्थोगालि (१६) आराधना-पताका (१७) द्वीपसागरप्रज्ञप्ति (१८) ज्योतिष्करण्डक (१९) अंगविद्या (२०) सिद्धप्राभृत (२१) सारावली और (२२) जीवविभक्ति।[1]

इसके अतिरिक्त एक ही नाम के अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा—'आउर पच्चक्खान' के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं।

इनमें से नन्दी और पाक्षिक के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, महाप्रत्याख्यान—ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिक सूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है।[2]

यद्यपि प्रकीर्णकों की संख्या और नामों को लेकर परस्पर मतभेद देखा जाता है, किन्तु यह सुनिश्चित है कि प्रकीर्णकों के भिन्न-भिन्न सभी वर्गीकरणों में महाप्रत्याख्यान को स्थान मिला है।

यद्यपि आगमों की शृंखला में प्रकीर्णकों का स्थान द्वितीयक है, किन्तु यदि हम भाषागत प्राचीनता और अध्यात्म-प्रधान विषय-वस्तु की दृष्टि से विचार करें तो प्रकीर्णक, कुछ आगमों की अपेक्षा भी महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। प्रकीर्णकों में ऋषिभाषित आदि ऐसे प्रकीर्णक हैं, जो उत्तराध्ययन और दशवैकालिक जैसे प्राचीन स्तर के आगमों की अपेक्षा भी प्राचीन हैं।[3]

महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक—

महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक (महापच्चक्खाण-पइण्णयं) प्राकृत भाषा की एक पद्यात्मक रचना है। इसका सर्वप्रथम उल्लेख नन्दीसूत्र एवं पाक्षिक-सूत्र में प्राप्त होता है। दोनों ही ग्रन्थों में आवश्यक-व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत के अन्तर्गत 'महाप्रत्याख्यान' का उल्लेख मिलता है।[4]

---

१. पइण्णयसुत्ताइं, पृष्ठ १८। २. नन्दीसूत्र—मधुकर मुनि, पृष्ठ ८०-८१।

३. ऋषिभाषित आदि की प्राचीनता के सम्बन्ध में देखें—

डॉ० सागरमल जैन—ऋषिभाषित एक अध्ययन (प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर)।

४. (क) उक्कालिअं अणेगविहं पण्णत्तं तं जहा—(१) दसवेआलिअं····

(२९) महापच्चक्खाणं, एवमाइ।—नन्दीसूत्र-मधुकर मुनि-पृष्ठ १६१-१६२,

(ख) नमो तेसिं खमासमणाणं····अंगबाहिरं उक्कालियं भगवंतं। तं जहा—दसवेआलिअं (१)····महापच्चक्खाणं (२८)।

(पाक्षिकसूत्र-देवचन्द्र लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार, पृष्ठ ७६)

पाक्षिकसूत्र वृत्ति में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है—"महाप्रत्याख्यानम् अत्रायं भावः स्थविरकल्पिका विहारेणैव संलीढाः प्रान्तेऽनशनौच्चारं कुर्वन्ति, एवमेतत्सर्वम् सविस्तरं वर्ण्यते यत्र तन्महा-प्रत्याख्यानम्।" अर्थात् जो स्थविरकल्पी जीवन की सन्ध्या वेला में विहार करने में असमर्थ होते हैं, उनके द्वारा जो अनशनव्रत (समाधिमरण) स्वीकार किया जाता है, उन सबका जिसमें विस्तार से वर्णन किया गया है, उसे महाप्रत्याख्यान कहते हैं।[1] इस प्रकार पाक्षिकसूत्र वृत्ति में मात्र स्थविरकल्पिकों के समाधिमरण का ही उल्लेख मिलता है। जिनकल्पी समाधिमरण कैसे स्वीकारते हैं, इस सम्बन्ध में पाक्षिकसूत्र वृत्ति में कोई विवेचन नहीं दिया गया है।

नन्दीसूत्र चूर्णि में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए कहा गया है —"थेरकप्पेणं जिणकप्पेण वा विहरित्ता अंते थेरकप्पिया बारस वासे संलेहं करेत्ता, जिणकप्पिया पुण विहारेणेव संलीढा तहा वि जहाजुत्तं संलेहं करेत्ता निव्वाघातं सचेट्ठा चेव भवचरिमं पच्चक्खंति, एतं सवि-त्थरं जत्थज्झयणे वणिज्जंति तमज्झयणं महापच्चक्खाणं।" अर्थात् स्थविरकल्प और जिनकल्प के द्वारा विचरण करने वालों में से स्थविर-कल्पी अन्तिम समय में (स्थिरवास करके) बारह वर्ष में संलेखना करते हैं जबकि जिनकल्पी विहार करते हुए ही संलेखना के योग्य अवसर आ जाने पर संलेखना स्वीकार करते हैं और निरपवाद प्रयत्नपूर्वक जीवन पर्यन्त का (आहारादि का) प्रत्याख्यान करते हैं, इसका जिस अध्ययन में सविस्तार वर्णन किया गया है, वह अध्ययन महाप्रत्याख्यान है।[2]

महाप्रत्याख्यान के विषय में नन्दीचूर्णि की इस व्याख्या से ऐसा लगता है कि उस समय स्थविरकल्पिकों और जिनकल्पिकों को संलेखना विधि में अन्तर था। स्थविरकल्पी वृद्धावस्था की स्थिति को जानकर अपनी विहारचर्या को स्थगित कर देते थे और एक स्थानपर स्थित होकर (स्थिरवास करके) क्रमिक रूप से आहारादि का त्याग करते हुए बारह वर्ष तक की दीर्घ अवधि की संलेखना करते थे। इसका एक तात्पर्य यह भी है कि वे आहारादि में धीरे-धीरे कमी करते हुए क्रमशः

---

१. पाक्षिकसूत्र, पृष्ठ ७८।
२. नन्दीसूत्र चूर्णि, पृष्ठ ५० (प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, वाराणसी)।

आहारादि के सम्पूर्ण त्याग की दिशा में आगे बढ़ते थे, जबकि जिनकल्पी सतत् रूप से विहार करते रहते थे और जब उन्हें यह आभास हो जाता है कि अब विहारचर्या सम्भव नहीं है तो वे आहारादि का त्याग करके संलेखना स्वीकार कर लेते थे। इस तथ्य की पुष्टि वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा की प्रचलित संलेखना विधि से हो जाती है। दिगम्बर परम्परानुसार जब मुनि विहार करने में असमर्थ हो जाता है, यहाँ तक कि उसके लिए भिक्षार्थ जाना भी जब सम्भव नहीं रहता है तो वह मुनि संलेखना स्वीकार कर लेता है क्योंकि इस परम्परा में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार को ग्रहण करने की परम्परा नही है, जबकि श्वेताम्बर परम्परानुसार वृद्धावस्था में मुनि स्थिरवासी हो जाते हैं और क्रमशः आहारादि कम करते हुए संलेखना स्वीकार करते हैं। यह अलग बात है कि स्थिरवासी हो जाने के पश्चात् भी सभी मुनि आहारादि कम नहीं करते हैं।

नन्दीचूर्णि में स्थविरकल्पियों और जिनकल्पियों को जो भिन्न-भिन्न संलेखना विधि बतलाई गई है, वह इन दोनों कल्पों की चर्या की दृष्टि से उचित प्रतीत होती है। आज भी दिगम्बर मुनि किसी न किसी रूप में जिनकल्प का पालन तो करते ही हैं और श्वेताम्बर मुनि स्थविरकल्प के निकट है। यह एक अलग बात है कि आज बारह वर्ष की संलेखना करने की विधि प्रचलन में नहीं रह गई है किन्तु बारह वर्ष की इस संलेखना विधि का उल्लेख दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ भगवती आराधना में भी मिलता है।[1] यापनीय परम्परा तो आपवादिक स्थिति में दूसरों के द्वारा लाए गए आहार को ग्रहण करने की अनुमति भी देती है। भगवती आराधना में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि संलेखना करने वाले मुनि के लिए चार मुनि आहारादि लाए और चार मुनि उस आहारादि की रक्षा करे।[2] इस प्रकार यापनीय परम्परा में भी स्थविरकल्प और जिनकल्प दोनों का उल्लेख मिलता है।

नामकरण की सार्थकता—

प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान कहा गया है। प्रकीर्णक ग्रन्थों में महाप्रत्याख्यान और आतुरप्रत्याख्यान—ये दोनों ग्रन्थ समाधिमरण की

---

१. भगवती आराधना, गाथा २५४।

२. वही, गाथा ६६१-६६२।

अवधारणा से सम्बन्धित हैं। महाप्रत्याख्यान शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है—सबसे बड़ा प्रत्याख्यान। प्रत्याख्यान का तात्पर्य त्याग से है। इस अनुसार सबसे बड़ा त्याग महाप्रत्याख्यान कहलाता है। व्यक्ति के जीवन में सबसे बड़ा त्याग यदि कोई है तो वह है—देह त्याग। प्रत्याख्यानपूर्वक देह त्याग करने को ही समाधिमरण कहा जाता है। समाधिमरण का विशेष उल्लेख होने से ही प्रस्तुत कृति को महाप्रत्याख्यान नाम दिया गया है। नन्दचूर्णि और पाक्षिकसूत्र में महाप्रत्याख्यान का परिचय देते हुए जिस प्रकार समाधिमरणका उल्लेख हुआ है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान का सम्बन्ध समाधिमरण से है।

समाधिमरण से सम्बन्धित विषयवस्तु वाले ग्रंथों में महाप्रत्याख्यान के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रंथ हैं जैसे—आतुरप्रत्याख्यान, मरणविभक्ति, मरणसमाधि, मरणविशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा और आराधना आदि। समाधिमरण से सम्बन्धित इन सभी ग्रन्थों को एक ग्रन्थ में समाहित करके उसे 'मरणविभक्ति' नाम दिया गया है। उपलब्ध मरणविभक्ति में मरणविभक्ति, मरणसमाधि, मरणविशुद्धि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान और आराधना—ये आठ ग्रन्थ समाहित हैं। इन आठ ग्रन्थों में से मरणविभक्ति, मरणसमाधि, संलेखनाश्रुत, भक्तपरिज्ञा, आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान—इन ग्रन्थों के नाम हमें नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में मिलते हैं।[1] किन्तु शेष दो ग्रन्थ मरणविशुद्धि और आराधना के नाम नन्दीसूत्र मूल और उसकी चूर्णी में उपलब्ध नहीं है। महाप्रत्याख्यान का मरणविभक्ति में समाहित किया जाना इस बात का सूचक है कि वह समाधिमरण से सम्बन्धित रचना है। ग्रन्थ का महाप्रत्याख्यान नाम इसलिए भी सार्थक है कि इसमें प्राणी की रागात्मकता या आसक्ति के मूल केन्द्र शरीर के ही परित्याग पर बल दिया गया है, वस्तुतः इसी अर्थ में यह ग्रन्थ महाप्रत्याख्यान कहा जाता है।

प्रकीर्णकों की मान्यता का प्रश्न—

श्वेताम्बरों में चाहे ८४ आगम मानने वाली परम्परा हो, चाहे ४५ आगम मानने वाली परम्परा हो—दोनों ने प्रकीर्णक ग्रन्थों को आगम रूप में स्वीकार किया है। किन्तु स्थानकवासी और तेरापंथी परम्परा जो ३२ आगमों को ही मान्य कर रही हैं, उन्होंने दस प्रकीर्णक, जीतकल्प,

---

१. (क) नन्दीसूत्र ८०।
(ख) नन्दीसूत्र ८०, चूर्णी पृष्ठ ५८।

ओघनिर्युक्ति तथा महानिशीथ—इस प्रकार कुल तेरह आगम ग्रन्थों को अस्वीकार करके ४५ आगमों में से ३२ आगमों को ही स्वीकार किया है। प्रकीर्णक तथा तीन अन्य ग्रन्थों को आगम रूप में अमान्य करने के जो कारण इन दोनों परम्पराओं द्वारा बताए जाते हैं, वे यह हैं कि प्रकीर्णकों तथा इन तीन ग्रन्थों में अनेक ऐसे कथन हैं जो मूल आगमों और इनकी परम्परागत मान्यताओं के विरुद्ध हैं।

मुनि किशनलाल जी ने प्रकीर्णकों को अमान्य करने के लिए निम्नलिखित कारणों का उल्लेख किया है[1]—

१. "आउरपच्चक्खाण, गाथा ८ में पंडितमरण का अधिकार कहा गया है। गाथा ३१ में सात स्थानों पर धन (परिग्रह) का उपयोग करने का आदेश है। गाथा ३० में गुरुपूजा, सार्धमिनी भक्ति आदि सात बोलों का निर्देश है। आउरपच्चक्खाण की साक्षी है किन्तु भत्तपइण्णा में नाम नहीं है। सावद्य (पाप सहित) भाषा का उपयोग सूत्र में नहीं हो सकता, इसलिए यह अमान्य है।"

२. "गणिविज्जा पइन्ने में भी ज्योतिष की प्ररूपणा की है। उसके उदाहरण हैं—श्रवण, धनेष्टा, पुनर्वसु—तीन नक्षत्रों में दीक्षा नहीं लेनी चाहिए (गाथा २२)। लेकिन २० तीर्थंकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगम में जिस कार्य को मान्य किया उसके विपरीत उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए। उसका आधार क्या हो सकता है? आगे वहीं आया है—किसी-किसी नक्षत्र में गुरु की सेवा नहीं करनी चाहिए, लुञ्चन नहीं करना चाहिए—ये सब बातें आगम में अनुमोदित नहीं है। इसलिए इनको मान्य नहीं किया गया है।"

३. "तन्दुलवेयालियं में संठाण के सम्बन्ध में जो चर्चा है, वह आगमों में सूचित निर्देशों से भिन्न है। परस्पर मेल नहीं खाती। वहाँ लिखा है—पाचवें आरे के मनुष्य के अन्तिम संहनन और संठाण होता है। दूसरे आगमों में छह ही संठाण संहनन मनुष्यों में पाए जाने की सूचना है। परस्पर विरोधाभास से तंदुलवेयालियं की बात कैसे मान्य की जा सकती है? ऐसे अप्रामाणिक वचन 'चन्दगविज्झय' गाथा ९८ में साधु के उत्कृष्ट

---

१. आगमों की प्रामाणिक संख्या : जयाचार्यकृत विवेचन-तुलसीप्रज्ञा-खंड १६, अंक १ (जून १९९०)

तीन भवों का उल्लेख है जबकि अन्य आगमों की मान्यता में उत्कृष्ट पन्द्रह भव में मोक्ष जाता है।"

४. "देविन्दस्तव में स्त्री के लिए अहो सुन्दरी! आमन्त्रण है। आचारांग में स्त्री के लिए बहिन का सम्बोधन है। सुन्दरी का सम्बोधन समुचित नहीं है।"

५. "महापच्चक्खाण गाथा ६२ में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व समस्त जीव अनन्तबार उपलब्ध हुए हैं। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्तबार उपलब्ध नहीं हो सकते। कथन आगम विरुद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार यहाँ हम देख ैं कि मुनिजी ने आतुरप्रत्याख्यान, गणिविद्या, तंदुलवैचारिक, चन्द्रव ्यक, देवेन्द्रस्तव और महाप्रत्याख्यान के कुछ कथन लेकर सभी प्रकीर्णकों को आगम विरुद्ध बतलाने का प्रयास किया है। मुनि जी ने चन्द्रवेध्यक और तन्दुलवैचारिक को अमान्य करने के लिए जो तर्क दिए हैं उनकी पुष्टि उन्होंने आगम के कोई सन्दर्भ नहीं दिए हैं। सन्दर्भ के अभाव में उनके कथन की प्रामाणिकता कैसे स्वीकार की जा सकती है?

देवेन्द्रस्तव के बारे में उनका जो आक्षेप है वह कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता, क्योंकि वहाँ किसी मुनि ने नहीं वरन् किसी श्रावक ने अपनी पत्नी को सुन्दरी कहा है। पुनः सुन्दरी शब्द का प्रयोग तो उपासकदशांग[1] और भगवतीसूत्र[2] आदि आगमों में भी मिलता है।

आतुरप्रत्याख्यान, गणिविद्या और महाप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में मुनि जी ने जो आक्षेप लगा हैं, यहाँ हम उनका यथासम्भव निराकरण करना चाहेंगे।

आतुरप्रत्याख्यान के सम्बन्ध में मुनि जी का आक्षेप यह है कि उसमें सात स्थानों पर धन के उपयोग करने का आदेश है, यह कथन सावद्य होने के कारण अमान्य है। गुरुभक्ति, सार्धमिक भक्ति आदि में सम्पत्ति का उपयोग होना किस अर्थ में सावद्य है, यह हमें समझ में नहीं आ रहा है। मुनि के लिए औद्देशिक रूप से भोजनादि चाहे न बनाए जाएँ किन्तु उन्हें जो दान दिया जाता है उसमें सम्पत्ति का विनियोग तो होता

१. उपासकदशांग—'सुन्दरी णं देवाणुप्पिया', उद्धृत-पाइअसद्दमहण्णवो—पृष्ठ ९११-९१२।

२. भगवती ९/३३; उद्धृत-अर्द्धमागधी कोश, भाग ४, पृष्ठ ७७६।

ही है। बिना धन के भोजन, वस्त्र और मुनि जीवन के उपकरण आदि प्राप्त नहीं किये जा सकते। पुनः प्रवचन भक्ति और स्वधर्मी वात्सल्य का उल्लेख तो ज्ञाताधर्मकथा में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन के सन्दर्भ में भी हुआ है।[1] अन्न, वस्त्रादि के दान को तो पुण्यरूप भी माना गया है। अपने इस कथन की पुष्टि में हम कहना चाहेंगे कि तीर्थंकरों के द्वारा भी दीक्षा लेने के पूर्व दान देने का उल्लेख आगम ग्रन्थों में मिलता है।[2] हम मुनि जी से यह जानना चाहेंगे कि क्या तीर्थंकर द्वारा दिया गया दान धन के विनियोग के बिना होता है? क्या वह सावद्य होता है? साधु सावद्य भाषा न बोले, यह बात तो समझ में आ सकती है किन्तु वह गृहस्थ को उसके दान आदि कर्तव्य का बोध भी न कराए, यह कैसे मान्य किया जा सकता है? हमें समझ में नहीं आ रहा है कि साधर्मिक-भक्ति आदि का उल्लेख होने मात्र से आतुरप्रत्याख्यान जैसे चारित्रगुण और साधना प्रधान प्रकीर्णक को मुनि जी ने कैसे अमान्य बतलाने प्रयास किया है?

गणिविद्या को अस्वीकार करने का तर्क मुनि जी ने यह दिया है कि उसमें कुछ विशिष्ट नक्षत्रों में दीक्षा, केशलोच और गुरु सेवा आदि नहीं करने के लिए कहा गया है। आगे मुनि जी ने यह भी लिखा है कि गणिविद्या श्रवण नक्षत्र में दीक्षा लेने का निषेध करती है जबकि मुनि जी का कहना है—"२० तीर्थंकरों ने श्रवण नक्षत्र में दीक्षा ग्रहण की, ऐसा आगमों में उल्लेख है। आगमों में जिस कार्य को मान्य किया जाए उसके विपरीत जो उसका निषेध करे, उसे कैसे मान्य किया जाए।" हम मुनि जी से पूछना चाहेंगे कि उनके द्वारा मान्य ३२ आगमों में कौन-सा ऐसा आगम ग्रन्थ है, जिसमें यह उल्लेख मिलता हो कि २० तीर्थंकरों की दीक्षा श्रवण नक्षत्र में हुई। पता नहीं मुनि जी ने किस आधार पर यह कथन किया है। यदि वे आगमिक प्रमाण देते तो इस विषय में आगे विचार किया जा सकता था। दीक्षा के नक्षत्र आदि की चर्चा तो परवर्ती ग्रन्थों में ही है, आगमों में नहीं है। कम से कम ३२ आगमों में तो ऐसा कथन है ही नहीं। यहाँ हम एक बात और कहना चाहेंगे कि सैद्धान्तिक रूप से भले ही दीक्षा, केशलोच आदि के लिए नक्षत्र आदि का उल्लेख नहीं मिलता हो, किन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात है चाहे वह स्थानकवासी, तेरापंथी या अन्य कोई भी परम्परा

---

१. ज्ञाताधर्मकथासूत्र ८/१४।
२. वही, ८/१५४।

हो, व्यवहार में तो सभी दीक्षा मुहूर्त आदि देखते ही हैं और उसका पालन भी करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ महाप्रत्याख्यान को मुनि जी ने जयाचार्य द्वारा अस्वीकृत करने का कारण इस ग्रन्थ की ६२वीं गाथा बतलाया है। इस गाथा का मूल भाव यह है कि इस जीव ने देवेन्द्र, चक्रवर्तीत्व एवं राज्यों के उत्तम भोगों को अनन्तबार भोगा है फिर भी इसे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है। इस सम्बन्ध में मुनि जी का कहना है—"इस गाथा में देवेन्द्र तथा चक्रवर्तीत्व समस्त जीव अनन्तबार उपलब्ध हुए है, ऐसा कथन है। प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्तबार उपलब्ध नहीं हो सकते। यह कथन आगम विरुद्ध है, इसको मान्य नहीं किया जा सकता।" इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन इस प्रकार है कि प्रथम तो यह कथन समस्त जीवों के लिए है ही नहीं, जैसा कि मुनि जी ने कहा है। मूलगाथा में यह कहीं भी स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है कि प्रत्येक जीव चक्रवर्तीत्व अनन्तबार उपलब्ध हो सकते हैं और दूसरा यह एक उपदेशात्मक गाथा है इसका उद्देश्य मात्र यह बतलाना है कि अनेक बार श्रेष्ट भोगों को प्राप्त करके भी यह जीव तृप्त नहीं हुआ है। इस सामान्य कथन को इसकी भावना के विपरीत अर्थ में लेना समुचित नहीं है। भारतीय गरीब है—यह एक सामान्य कथन है, इसका यह अर्थ लेना उचित नहीं होगा कि कोई भी भारतीय धनवान नहीं है।

मुनि जी ने अपने कथन में एक बार 'समस्त जीव' और दूसरी बार 'प्रत्येक जीव' कहकर **प्रत्येक** शब्द पर विशेष बल देकर ही इस ग्रन्थ को अमान्य बताया है। हमारे मतानुसार मुनि जी को यह भ्रान्ति इस गाथा में लिखे हुए 'पत्ता' शब्द का ठीक से अर्थ न कर पाने के कारण हुई है, संभवतया मुनि जी ने इसी 'पत्ता' शब्द का अर्थ 'प्रत्येक' कर दिया है। वस्तुतः 'पत्ता' शब्द का अर्थ प्रत्येक नहीं होकर 'प्राप्त किया' ऐसा अर्थ है। यदि यहाँ इस रूप में 'पत्ता' शब्द का अर्थ किया जाता तो मुनि जी को ऐसी भ्रान्ति नहीं होती।

यहाँ हम एक बात और स्पष्ट रूप से कहना चाहेंगे, वह यह कि आगम ग्रन्थों में जो भी कथन हैं, वे सब सापेक्षिक है। कोई भी जिनवचन निरपेक्ष नहीं होते। यदि निरपेक्ष दृष्टि से आगमों का अर्थ किया जाएगा तो जिन बत्तीस आगमों को स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रामाणिक मान रहे हैं, उनमें भी ऐसी अनेक विसंगतियाँ दिखाई जा सकती हैं जो इनकी परम्परा के विरुद्ध मानी जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि

प्रारम्भ में लोकाशाह और स्थानकवासी परम्परा को बत्तीस आगम ही उपलब्ध हो सके इसीलिए उन्होंने बत्तीस आगमों को ही मान्य रखा और जब एकबार बत्तीस आगमों की परम्परा उनके द्वारा स्वीकार कर ली गई तो फिर उसे परिवर्तित करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। अतः बाद में प्रकीर्णकों के उपलब्ध होने पर भी उन्हें आगम रूप में मान्य नहीं किया।

प्रकीर्णकों में तित्थोगाली, गणिविद्या आदि एक-दो प्रकीर्णक ऐसे भी हैं जो इनकी परम्परा से कुछ भिन्न कथन करते हों, तो भी सम्पूर्ण प्रकीर्णक साहित्य को अस्वीकार कर देना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में तो हमें अनेक आगम ग्रन्थों को भी अस्वीकार कर देना होगा, क्योंकि उनमें तो इन प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी अधिक ऐसे कथन हैं जो इनकी मान्यताओं के विपरीत जाते हैं। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणिविद्या की अपेक्षा अधिक सावद्य उपदेश हैं।[1] और जहाँ तक परम्पराओं से भिन्न कथन का प्रश्न है तो आगमों में प्रकीर्णकों की अपेक्षा भी जिन प्रतिमा और जिन पूजा के ज्यादा उल्लेख मिलते हैं, क्या ऐसे उल्लेख करने वाले स्थानांग[2], ज्ञाताधर्मकथा[3] और राजप्रश्नीय[4] आदि को हम आगम रूप में मानने से इन्कार करना चाहेंगे? जो भूल दिगम्बरों ने श्वेताम्बर आगम साहित्य को अमान्य करने को की। संभवत वही भूल स्थानकवासी और तेरापंथी प्रकीर्णकों को अमान्य करके कर रहे हैं। इसका जो दुःखद परिणाम है वह यह कि स्थानकवासी और तेरापंथी समाज विशुद्ध रूप से उपदेशात्मक, तप प्रधान एवं चारित्र प्रधान इस विपुल ज्ञान सम्पदा से वंचित रह गया है। जबकि हमें देखना यह चाहिए कि ये ग्रन्थ मनुष्य के आध्यात्मिक, साधनात्मक एवं चारित्रिक मूल्यों के विकास में कितना योगदान करते हैं। यदि हमें इनके अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा लगे कि इनमें उपयोगी सामग्री रही हुई है तो यत्किंचित मान्यता भेद के रहते हुए भी इन्हें आगम रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए और इनके अध्ययन-अध्यापन को भी विकसित करना चाहिए।

---

१. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०/१७ (श्रीहर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला)।

२. 'चत्तारि जिणपडिमाओ सव्वरयणामईओ'—स्थानांगसूत्र–मधुकर मुनि, ४/३३९।

३. 'पवरपरिहिया जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ'—ज्ञाताधर्मकथा-मधुकर मुनि, १६/११८

४. 'तासि णं जिणपडिमाणं'—राजप्रश्नीयसूत्र–मधुकर मुनि, सूत्र १७७-१७९।

ग्रन्थ में प्रयुक्त हस्तलिखित प्रतियों का परिचय—

मुनि श्री पुण्यविजय जी ने इस ग्रन्थ के पाठ निर्धारण में निम्न प्रतियों का उपयोग किया था—

१. सं० : संघवीपाड़ा जैन ज्ञान भंडार की ताड़पत्रीय प्रति।
२. पु० : मुनि श्री पुण्यविजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति।
३. सा० : आचार्य सागरनन्दसूरीश्वर जी द्वारा सम्पादित प्रति।
४. हं० : मुनि श्री हंसविजय जी महाराज की हस्तलिखित प्रति।

हमने क्रमांक १ से ४ तक की इन पाण्डुलिपियों के पाठ भेद मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित पइण्णयसुत्ताइं नामक ग्रन्थ से ही लिए हैं। इन पाण्डुलिपियों की विशेष जानकारी के लिए हम पाठकों से पइण्णयसुत्ताइं ग्रन्थ की प्रस्तावना के पृष्ठ २३-२७ देख लेने की अनुशंसा करते हैं।

लेखक एवं रचनाकाल का विचार—

महाप्रत्याख्यान का उल्लेख यद्यपि नन्दीसूत्र, पाक्षिकसूत्र आदि अनेक ग्रन्थों में मिलता है किन्तु इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में कहीं पर भी कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता है जो संकेत हमें मिलते हैं उसके आधार पर मात्र यही कहा जा सकता है कि यह ५वीं शताब्दी या उसके पूर्व के किसी स्थविर आचार्य की कृति है। इसके लेखक के सन्दर्भ में किसी भी प्रकार का कोई संकेत सूत्र उपलब्ध न हो पाने के कारण इस सम्बन्ध में अधिक कुछ भी कहना कठिन है।

किन्तु जहाँ तक इस ग्रन्थ के रचनाकाल का प्रश्न है, इतना तो सुनिश्चित रूप से कह सकते हैं कि यह ईस्वी सन् की ५वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है क्योंकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र के अतिरिक्त नन्दीचूर्णि आदि में भी मिलता है। पाक्षिकसूत्र की वृत्ति तथा नन्दीचूर्णि में इस ग्रन्थ की विषयवस्तु का भी संक्षिप्त उल्लेख है। चूर्णियों का काल लगभग ७वीं शताब्दी माना जाता है, अतः महाप्रत्याख्यान का रचनाकाल नन्दीचूर्णि से पूर्व ही होना चाहिए। पुनः महाप्रत्याख्यान का स्पष्ट निर्देश नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र मूल में भी है। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक के समय के सन्दर्भ में मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं पं० दलसुख भाई मालवणिया ने विशेष चर्चा की है। नन्दीचूर्णि में देववाचक को दूष्यगणी का शिष्य कहा गया है। कुछ विद्वानों ने नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक और आगमों को पुस्तकारूढ़ करने वाले देवर्द्धिगणी

क्षमाश्रमण को एक ही मानने की भ्रान्ति की हैं। इस भ्रान्ति के शिकार मुनि श्री कल्याणविजय जी भी हुए हैं, किन्तु उल्लेखों के आधार पर जहाँ देवर्द्धि के गुरु आर्य शांडिल्य हैं, वहीं देववाचक के गुरु दूष्यगणी है। अतः यह सुनिश्चित है कि देववाचक और देवर्द्धि एक ही व्यक्ति नहीं हैं। देववाचक ने नन्दीसूत्र स्थविरावली में स्पष्ट रूप से दूष्यगणी का उल्लेख किया है।

पं० दलसुखभाई मालवणिया ने देववाचक का काल वीर निर्वाण संवत् १०२० अथवा विक्रम संवत् ५५० माना है, किन्तु यह अन्तिम अवधि ही मानी जाती है। देववाचक उससे पूर्व ही हुए होंगे। आवश्यक निर्युक्ति में नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों का उल्लेख है, और आवश्यक-निर्युक्ति को द्वितीय भद्रबाहु की रचना भी माना जाय तो उसका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही सिद्ध होता है। इन सब आधारों से यह सुनिश्चित है कि देववाचक और उसके द्वारा रचित नन्दीसूत्र ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की रचना है। इस सन्दर्भ में विशेष जानने के लिए हम मुनि श्री पुण्यविजय जी एवं पं० दलखसुखभाई मालवाणिया के नन्दीसूत्र की भूमिका में देवाचक के समय सम्बन्धी चर्चा को देखने का निर्देश करेंगे। चूंकि नन्दीसूत्र में महाप्रत्याख्यान का उल्लेख है, अतः इस प्रमाण के आधार पर हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ ईसवी सन् की ५वीं शताब्दी के पूर्व निर्मित हो चुका था। किन्तु इसकी रचना की उत्तर सीमा क्या हो सकती है, यह कह पाना कठिन है। महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की अनेक गाथाएँ उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन आगम में, आवश्यकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति आदि निर्युक्तियों में तथा मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक, तित्थोगाली, संस्तारक, आराधनापताका तथा आराधनाप्रकरण आदि प्रकीर्णकों में साथ ही यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथों भगवती आराधना, मूलाचार, नियमसार, समयसार, भावपाहुड आदि में हैं। ये सभी ग्रन्थ ईसवी सन् की पाँचवीं-छठी शताब्दी के मध्य के हैं। यद्यपि यहाँ यह निर्धारित कर पाना कठिन है कि ये सभी गाथाएँ इन ग्रन्थों से महाप्रत्याख्यान में ली गई हैं या महाप्रत्याख्यान से ये गाथाएँ इन ग्रन्थों में गई हैं, फिर भी जो ग्रन्थ नन्दी से परवर्ती हैं उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई होंगी, यह माना जा सकता है। विशेष रूप से मूलाचार, भगवती आराधना आदि में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में महाप्रत्याख्यान से ही गई होंगी। पुनः इस ग्रन्थ की उप-

लब्ध ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी यही प्रमाणित करती है कि यह ग्रन्थ पर्याप्त रूप से प्राचीन है।

महाप्रत्याख्यान के रचनाकाल के सन्दर्भ में विचार करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हमारे समक्ष यह है कि इसमें द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि जब कभी यह ग्रन्थ अस्तित्व में आया होगा तब तक द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आ चुके थे। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि द्वादश अंगों की अवधारणा जैन परम्परा में पर्याप्त प्राचीन है। द्वादशअंगों का उल्लेख स्थानांग[2], समवायांग[3] आदि प्राचीन आगम ग्रन्थों में भी मिलता है। यद्यपि इस कथन से इस ग्रन्थ के रचनाकाल को निर्धारित कर पाने में कोई विशेष सहायता तो नहीं मिलती है किन्तु इस आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि जब द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध अस्तित्व में आया होगा तब ही इस ग्रंथ की रचना हुई होगी। ग्रन्थ में उल्लिखित द्वादश अंगों के कथन से यह अर्थ भी स्वतः ही फलीभूत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना द्वादशअंगों की रचना के बाद तथा पूर्व साहित्य के लुप्त होने के पूर्व हुई होगी। इस ग्रन्थ में द्वादश अंगों का उल्लेख, किन्तु निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी के नामों का अभाव यही सूचित करता है कि इस ग्रन्थ की रचना ईसा की द्वितीय शताब्दी के बाद तथा पाँचवों शताब्दी के पूर्व कभी हुई होगी।

रचनाकाल के सम्बन्ध में ही एक और बात ध्यान देने योग्य है कि इस ग्रन्थ में समाधिमरण के प्रसंग में कहीं भी गुणस्थानों की चर्चा नहीं हुई है जबकि समाधिमरण की विषयवस्तु का प्रतिपादन करने वाले यापनीय परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना और मूलाचार में भी गुणस्थानों की चर्चा की गई है। हमने अपने एक स्वतन्त्र निबन्ध में गुणस्थान की विकसित अवधारणा का काल तत्त्वार्थभाष्य के पश्चात् अर्थात् तीसरी शताब्दी के बाद और सर्वार्थसिद्धिटीका के पूर्व अर्थात् पाँचवीं-छठीं शताब्दी के पूर्व माना है।[4] इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि गुणस्थान की अवधारणा लगभग पाँचवीं शताब्दी के आसपास कभी पूर्णतः विकसित हुई है। इससे भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाप्रत्या-

१. गाथा, १०२।
२. स्थानांग १०/१०३।
३. समवायांग १/२।
४. श्रमण (जनवरी-मार्च १९९२)

स्थान चौथी शताब्दी से पूर्व की रचना है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान दूसरी से चौथी शताब्दी के मध्य कभी निर्मित हुआ है।

विषयवस्तु—

महाप्रत्याख्यान में कुल १४२ गाथाएँ हैं, जिनमें निम्नलिखित विषय वस्तु का विवरण उपलब्ध होता है—

ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते हुए सर्वप्रथम तीर्थंकरों, जिनदेवों, सिद्धों और संयमियों को प्रणाम किया गया है तत्पश्चात् बाह्य एवं अभ्यन्तर समस्त प्रकार की उपधि का मन, वचन एवं काया—तीनों प्रकार से त्याग करने का कथन है (१-५)।

समस्त जीवों के प्रति समताभाव का कथन करते हुए कहा गया है कि सभी जीवों को मैं क्षमा करता हूँ और समस्त जीव मुझे क्षमा करें। साथ ही निन्दा करने योग्य कर्म की निन्दा, गर्हा करने योग्य कर्म की गर्हा और आलोचना करने योग्य कर्म की आलोचना करने का भी कथन है (६-८)।

इसमें व्यक्ति को यह प्रेरणा दी गई है कि वह ममत्व के स्वरूप को जानकर निर्ममत्व में स्थिर रहे। आत्मा के विषय में कहा गया है कि आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा संयम व योग भी आत्मा ही है (९-११)। अग्रिम गाथा में मूलगुणों और उत्तरगुणों की सम्यक् परिपालन नहीं करने की निन्दा की गई है। उपाचार्यश्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा' में महाप्रत्याख्यान की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया है—"साधक को मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करना चाहिए[1]।" मूल ग्रंथ को देखने से ज्ञात होता है कि वहाँ मूलगुणों और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करने के लिए नहीं कहा गया है वरन् वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि प्रमाद के द्वारा मूलगुणों और उत्तरगुणों में जिन (गुणों) की मैं जो आराधना नहीं कर पाया हूँ, उस सबकी निन्दा करता हूँ (१२)।

आत्मा विषयक निरूपण करते हुए कहा गया है कि आत्मा ही व्यक्ति की स्व (अपनी) है, शेष समस्त पदार्थ उसके नहीं होकर पर (बाह्य) हैं। साथ ही दुःख परम्परा के कारण संयोग सम्बन्धों को त्रिविध रूप से त्याग

---

१. जैन आगम साहित्य-मनन और मीमांसा, पृष्ठ ३९०।

करने का उपदेश है (१३–१७) । निन्दा, गर्हा, और आलोचना किसकी की जाए, इसके विषय में कहा गया है कि असंयम, अज्ञान और मिथ्यात्त्व आदि की निन्दा और गर्हा तथा ज्ञात-अज्ञात सभी प्रकार के अपराधों की आलोचना करनी चाहिए (१८–२०) । माया के विषय में कहा गया है कि वह अपनाने के लिए नहीं वरन् त्यागने के लिए होती है । साधु को अपने समस्त दोषों की आलोचना माया एवं मद त्यागकर करनी चाहिए (२१–२३) ।

कौन जीव सिद्ध होता है ? इस विषयक निरूपण करते हुए कहा गया है कि वही जीव सिद्ध होता है, जिसने माया आदि तीन शल्यों का मोचन कर दिया हो । मिथ्या, माया और निदान इन तीनों शल्यों को अनिष्टकारी बतलाते हुए कहा है कि समाधिकाल में यदि ये शल्य मन में उपस्थित रहते हैं तो बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है, परिणाम स्वरूप जीव अनन्तसंसारी हो जाता है । इसलिए सजग साधक पुनर्जन्म से बचने के लिए इन शल्यों को हृदय से निकाल फेंकता है (२४–२९) ।

इसमें शिष्य के लिए यह उपदेश है कि उसे अपने द्वारा किये गये सभी कार्य-अकार्य को गुरु के समक्ष यथारूप कह देना चाहिए और फिर गुरु जो प्रायश्चित दे, उसका अनुसरण करना चाहिए (३०–३२) ।

सभी प्रकार की प्राण-हिंसा, असत्यवचन, अदत्तग्रहण, अब्रह्मचर्य और परिग्रह को मन, वचन व काया से त्यागने का भी निर्देश है । लोक में योनियों के चौरासी लाख मुख्य भेद बतलाते हुए कहा है कि जीव प्रत्येक योनि में अनन्तबार उत्पन्न होता है (३३–४०) ।

पण्डितमरण को प्रशंसनीय बताते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री ये सभी न तो किसी के रक्षणकर्त्ता है और न ही त्राणदाता । जीव अकेला ही कर्म करता है और उसके फल को भी अकेला ही भोगता है । व्यक्ति को चाहिए कि वह नरक-लोक, तिर्यंच-लोक और मनुष्य-लोक में जो वेदनाएँ हैं उन्हें तथा देवलोक में जो मृत्यु है, उन सबका स्मरण करते हुए पण्डितमरण पूर्वक मरे । क्योंकि एक पण्डितमरण सैंकडों भव-परम्परा का अन्त कर देता है (४१–५०) ।

सचित्त आहार, विषयसुख एवं परिग्रह आदि की विशेष चर्चा करते हुए इन्हें दुःखदायक बतलाया है तथा इनका त्याग करने की प्रेरणा दी गई है (५१–६०) । साथ ही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और तृष्णा को त्यागने तथा महाव्रतों का पालन करने का उपदेश है (६१–७०) ।

आगे की गाथाओं में षट्लेश्याओं और ध्यान से सम्बन्धित विवरण है, यहाँ कहा गया है कि कृष्ण, नील और कपोत लेश्या तथा आर्त और रौद्र ध्यान—ये सभी त्यागने योग्य हैं, किन्तु तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या तथा धर्म और शुक्ल ध्यान—ये अपनाने योग्य हैं। षट्लेश्याओं और ध्यान का विवरण स्थानांग[1], समवायांग[2], उत्तराध्ययन[3] आदि आगम ग्रन्थों में भी मिलता है (७१-७२)।

त्रिगुप्ति, पंचसमिति और द्वादश भावना से उपसम्पन्न होकर संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करने का कथन किया गया है (७३–७६)। साथ ही गुप्तियों और समितियों को ही व्यक्ति का शरणदाता एवं त्राणदाता बतलाया है (७७)।

आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में सभी समर्थ नहीं हैं। आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने में कौन समक्ष है ? यह कथन करते हुए कहा है कि यदि सद्पुरुष अनाकांक्ष और आत्मज्ञ हैं तो वे पर्वत की गुफा, शिलातल या दुर्गम स्थानों पर भी अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं (८०–८४)।

अकृत-योग और कृत-योग के गुण-दोष की प्ररूपणा करते हुए कहा है कि कोई श्रुत सम्पन्न भले ही हों, किन्तु यदि वह बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारित्र वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ है तो वह मृत्यु के समय में अवश्य अधीर हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में असमर्थ होता है। किन्तु जो व्यक्ति विषयसुखों में आसक्त नहीं रहता, भावीफल की आकांक्षा नहीं रखता तथा जिसके कषाय नष्ट हो गए हों, वह मृत्यु को सामने देखकर भी विचलित नहीं होता, अपितु तत्परतापूर्वक मृत्यु का आलिंगन कर लेता है (८५–९३)। वस्तुतः यही समाधिमरण की अवस्था है। प्रत्येक जैन मतावलम्बी अपने जीवन के अन्तिम क्षण में समस्त प्रकार के क्लेषों से मुक्त हो, राग-द्वेष को त्याग करके इसी प्रकार मरने की अभिलाषा करता है।

समाधिमरण का हेतु क्या है ? इस विषय में कहा गया है कि न तो तृणों की शय्या ही समाधिमरण का कारण है और न प्रासुक भूमि ही,

---

१. स्थानांग १/१९१, ३/१/५८, ३/४/५१५, ४/१/६०।

२. समवायांग ४/२०, ६/३१।

३. उत्तराध्ययन ३०/३५, ३१/८।

अपितु जिसका मन विशुद्ध होता है, दूसरे शब्दों में कहें तो जिसने चतुर्विध कषायों पर विजय प्राप्त कर ली हो, वही आत्मा संस्तारक होती है (९६)।

साधक जिस एक पद से धर्म मार्ग में प्रविष्ट होता है उस पद को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और कहा है कि साधक को चाहिए कि वह जीवन के अन्तिम समय तक भी उस पद का परित्याग नहीं करे (१०१–१०६)।

ग्रन्थ में जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित धर्म को कल्याणकारी बतलाया है तथा कहा है कि मन, वचन एवं काया से इस पर श्रद्धा रखनी चाहिए क्योंकि यही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है (१०७)। आगे की गाथाओं में विविध प्रकार के त्यागों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो मन से चिन्तन करने योग्य नहीं है, वचन से कहने योग्य नहीं हैं, तथा शरीर से जो करने योग्य नहीं हैं, उन सभी निषिद्ध कर्मों का साधक त्रिविध रूप से त्याग करे (१०८–११०)।

अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँच पदों को पूजनीय माना गया है तथा कहा है कि इनका स्मरण करके व्यक्ति अपने पाप कर्मों का त्याग करे (११४-१२०)। वेदना विषयक चर्चा करते हुए कहा है कि यदि मुनि आलम्बन करता है तो उसे दुःख प्राप्त होता है। समस्त प्राणियों को समभावपूर्वक वेदना सहन करने का उपदेश दिया गया है (१२१-१२२)।

ग्रन्थ में जिनकल्पी मुनि के एकाकीविहार को जिनोपदिष्ट और विद्वत्जनों द्वारा प्रशंसनीय बतलाया है तथा जिनकल्पियों द्वारा सेवित अभ्युद्यतमरण को प्रशंसनीय कहा है (१२६-१२७)। साधक के लिए कहा है कि वह चार कषाय, तीन गारव, पाँचो इन्द्रियों के विषय तथा परीषहों का विनाश करके आराधनारूपी पताका को फहराए (१३४)।

संसार समुद्र से पार होने और कर्मों को क्षय करने का उपदेश देते हुए कहा गया है कि हे साधक ! यदि तू संसाररूपी महासागर से पार होने की इच्छा करता है तो यह विचार मत कर कि "मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ अथवा शीघ्र ही मर जाऊ।" अपितु यह विचार कर कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और जिनवचन के प्रति सजग रहने पर ही मुक्ति सम्भव है (१३५-१३६)।

उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा' में महाप्रत्याख्यान की विषयवस्तु का वर्णन करते हुए

लिखा है कि साधक जघन्य व मध्यम आराधना से सात-आठ भव में मोक्ष प्राप्त करता है।[1] मूल ग्रन्थ को देखने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि ग्रन्थ की गाथा १३७ में आराधना के चार स्कन्धों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का तथा उसके तीन प्रकारों—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य का उल्लेख हुआ है, किन्तु आराधना फल को सूचित करने वाली गाथा १३८ में यह कहा गया है कि जो विज्ञ साधक इन चार स्कन्धों की उत्कृष्ट साधना करता है, वह उसी भव में मुक्त हो जाता है। पुनः गाथा १३९ में कहा गया है कि जो विज्ञ साधक चारों आराधना स्कन्धों की जघन्य साधना करता है वह शुद्ध परिणमन कर सात-आठ भव करके मुक्त हो जाता है। यहाँ ग्रन्थ में मध्यम आराधना के फल का कहीं कोई उल्लेख नहीं हुआ है। हम मुनि जी से जानना चाहेंगे कि उन्होंने किस आधार पर यह कहा है कि मध्यम आराधना वाला सात-आठ भव करके मोक्ष प्राप्त करता है। किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने यह कथन किया हो तो अलग बात है अन्यथा प्रस्तुत कृति में ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे उनके निष्कर्ष की पुष्टि की जा सके। यदि हमें मध्यम आराधना के फल को निकालना है तो उत्कृष्ट आराधना और जघन्य आराधना से प्राप्त फल के मध्य ही निकालना होगा अर्थात् यह मानना होगा कि व्यक्ति मध्यम आराधना से परिणामों की विशुद्धि के आधार पर कम से कम दो भव और अधिक से अधिक छह भव में मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

भगवती आराधना में भी मध्यम आराधना का फल बताते हुए यही कहा है कि मध्यम आराधना करके धीर पुरुष तीसरे भव में मुक्ति प्राप्त करते हैं।[2] पुनः उत्कृष्ट और जघन्य आराधना के फल के विषय में भी भगवती आराधना का कथन महाप्रत्याख्यान के समान ही है।[3]

ग्रन्थ का समापन यह कह कर किया गया है कि धैर्यवान् भी मृत्यु को प्राप्त होता है और कायर पुरुष भी, किन्तु मरना उसी का सार्थक है जो धीरतापूर्वक मरण को प्राप्त होता है। क्योंकि समाधिमरण ही उत्तम मरण है। अन्तिम गाथा में कहा गया है कि जो संयमी साधक इस प्रत्याख्यान का सम्यक् प्रकार से पालन कर मृत्यु को प्राप्त होंगे, वे मर कर या तो वैमानिक देव होंगे या सिद्ध होंगे।

---

१. जैन आगम साहित्य मनन और मीमांसा, पृ० ३९०-३९१।

२. भगवती आराधना, गाथा २१५५।

३. भगवती आराधना, गाथा २१५४, २१५६।

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक और अन्य आगम ग्रन्थ
तुलनात्मक विवरण

विषयवस्तु की तुलना

'महाप्रत्याख्यान' की अनेक गाथाएँ 'मरण विभक्ति' में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। विस्तार भय के कारण यहाँ उन सभी गाथाओं को नहीं लिखकर मात्र उनके क्रमांक ही लिखे जा रहे हैं।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
१	२१०
३	२११[1]
१२	२१७
१८	२२०
२०	१२०, २२२
२१	२२३
२२	१०१
२६	२२६
२७	११०, २२७
२८	१११, २२८
२९	११२, २२९
३०	२३०
३१	२३१
३२	२३२[2]
३३	२३३
३४	२३४[3]
३५	२३५
३६	२३६
३७	२३७
३९	२३८
४०	२३९
४१	२४०
४२	२४१
४३	२४२

१. यहाँ 'निरागारं' के स्थान पर 'अणागारं' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
२-३. यहाँ चौथे चरण में मात्र शाब्दिक भिन्नता है, भावगत तो समानता ही है।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
४४	२४३[1]
४५	२४४
४९	२४५
५०	२४६
५२	२४७
५४	२४८[2]
५५	२४९
६०	२५१[3]
६२	२५२
६३	२५३
६४	२५४
६५	२५५
६६	२५६
६७	२५७
६८	२५८
६९	२५९
७०	२६२
७१	२६०[4]
७२	२६१[5]
७३	२६४[6]
७४	२६३

१. यहाँ प्रथम चरण में 'एक्को करेइ कम्मं' के स्थान पर 'एक्को जायइ मरइ य' —इन शब्दों का प्रयोग हुआ है।

२. इस गाथा में शब्द रूप में आंशिक भिन्नता है, किन्तु भावगत समानता है।

३. यहाँ तीसरे चरण में 'उववाए' के स्थान पर 'परिभोगेण' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

४. यहाँ दूसरे चरण में 'अट्ट रोद्दाइं' के स्थान पर 'सुप्पसत्थाणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

५. यहाँ दूसरे चरण में 'धम्म-सुक्काइं' के स्थान पर 'सुपसत्थाणि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, लेकिन भावगत समानता है।

६. यहाँ 'सम्मविऊ' के स्थान पर 'अप्पमत्तो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

महाप्रत्याख्यान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
७५	२६६[1]
७६	२६५
७७	२६७
७८	२६८
७९	२६९[2]
८०	२७०[3]
८१	२७१[4]
८२	२७२[5]
८३	२७३
८४	२७४
८५	२७५
८६	२७६[6]
८७	२७७
८८	२७८[7]
८९	२७९
९०	२८०
९१	२८१
९२	२८२
९३	२८४
९४	२८४
९५	२८५[8]
९६	२८७[9]

१. यहाँ प्रथम दो चरण में आंशिक रूप से शाब्दिक भिन्नता है।
२. यहाँ 'सुहिउमारद्धं' के स्थान पर 'धणियमाइद्धं' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
३. यहाँ 'पब्भार-कंदरगया' के स्थान पर 'गिरिकुहर-कंदरगया' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
४-५. यहाँ शब्द रूप में आंशिक भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है।
६. यहाँ 'विसयसुहसमुइओ अप्पा' शब्दों के स्थान पर 'विसयसुहपराइओ जीवो' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु भावगत समानता है।
७. यहाँ 'मइपुव्वं' के स्थान पर 'सुहभावो' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
८. यहाँ 'आराहणा' के स्थान पर 'आलोयणा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।
९. यहाँ 'मणो जस्स' के स्थान पर 'मरंतस्स' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

महाप्रस्थान गाथा क्रमांक	मरण विभक्ति गाथा क्रमांक
९७	२८८
९८	२८९
९९	२९०
१००	२९१[१]
१०१	१३५
१०२	२९३
१०४	२९५
१०५	२९४
०६	२९६
१०७	२९७
१०८	२९८
११०	२९९[२]
१११	३००
११२	३०१
११४	३०२
१२०	३०३
१२१	३०४[३]
१२६	३०८
१२७	३०९
१२८	३१०[४]
१२९	३११
१३०	३१२[५]
१३२	३१३
१३३	३१४
१३४	३१५[६]
१३५	३१६
१३६	३१७
१३७	३१८
१३८	३१९
१३९	३२१
१४१	३२२[७]
१४२	३२३

१-७. इन गाथाओं में आंशिक रूप से शाब्दिक एवं भावगत भिन्नता है।

मरणविभक्ति के अतिरिक्त महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ आगम साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य, आगमिक व्याख्या साहित्य एवं दिगम्बर परंपरा में आगम रूप में मान्य ग्रन्थों में कहाँ एवं किस रूप में उपलब्ध हैं, इसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

[१] एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगईणं।
सव्वेसिं च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १)

[२] सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २)

[३] जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निंदामि सव्वभावेणं।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागारं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ३)

[४] बाहिरऽब्भंतरं उवहिं सरीरादि सभोयणं।
मणसा वय काएणं सव्वं तिविहेण वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४)

[५] रागं बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रइमरइं च वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ५)

[६] रोसेण पडिनिवेसेण अकयण्णुयया तहेव सढयाए।
जो मे किंचि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ६)

[१] एस करेमि पणामं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स ।
सेसाणं च जिणाणं सगणगणधराणं च सव्वेसिं ॥
(मूलाचार, गाथा १०८)[1]

[२] (i) सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो ।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा १७)

(ii) सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहदो णमो ।
सद्दहे जिणपण्णत्तं पच्चक्खामि य पावगं ॥
(मूलाचार, गाथा ३७)

[३] (i) जं किंचि मे दुच्चरित्तं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं तु तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥
(नियमसार, गाथा १०३)

(ii) जं किंचि मे दुच्चरियं सव्वं तिविहेण वोसरे ।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं णिरायारं ॥
(मूलाचार, गाथा ३९)

[४] बज्झब्भंतरमुवहिं सरीराइं च सभोयणं ।
मणसा वचि कायेण सव्वं तिविहेण वोसरे ॥
(मूलाचार, गाथा ४०)

[५] (i) रागं बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रइं अरइं च वोसिरे ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २३)

(ii) रायबंधं पदोसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥
(मूलाचार, गाथा ४४)

[६] (i) रागेण व दोसेण व जं मे अकयन्नुयापमाएणं ।
जो मे किंचि वि भणिओ तमहं तिविहेण खामेमि ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३५)

(ii) रागेण य दोसेण य जं मे अकदण्हुयं पमादेण ।
जो मे किंचिवि भणिओ तमहं सव्वं खमावेमि ॥
(मूलाचार, गाथा ५८)

---

१. यहाँ शब्द रूप में समानता नहीं होते हुए भी भावगत समानता है ।

[७] खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे।
आसवे वोसिरित्ताणं समाहिं पडिसंधए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ७)

[८] निंदामि निंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं।
आलोएमि य सव्वं जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८)

[९] ममत्तं परिजाणामि निम्ममत्ते उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०)

[१०] आया मज्झं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे आया मे संजमे जोगे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११)

[७] खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि॥
(मूलाचार, गाथा ४३)[1]

[८] (i) निंदामि निंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं।
आलोएमि य सव्वं सब्भितर बाहिरं उवहिं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३२)

(ii) णिंदामि णिंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणीयं।
आलोचेमि य सव्वं सब्भंतरबाहिरं उवहिं॥
(मूलाचार, गाथा ५५)

[९] (i) ममत्तं परिवज्जामि निम्ममत्तं उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया, अवसेसं च वोसिरे॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २४)

(ii) ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसं च वोसरे॥
(नियमसार, गाथा ९९)

(iii) ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे॥
(मूलाचार, गाथा ४५)

[१०) (i) आया हु महं नाणे, आया मे दसंणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे, आया मे संजमे जोगे॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २५)

(ii) आदा [2]खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥
(नियमसार, गाथा १००)
(भावपाहुड, गाथा ५८)
(मूलाचार, गाथा ४६)

(iii) आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो॥
(समयसार, गाथा २७७)

---

१. मात्र पहले दो चरण ही समान है।

२. मूलाचार में 'खु' के स्थान पर 'हु' है।

[११] मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं।
ते सव्वे निंदामि पडिक्कमे आगमिस्साणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १२)

[१२] एक्को हं नत्थि मे कोई, न चाहमवि कस्सई।
एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १३)

[१३] एक्को उप्पज्जए जीवो, एक्को चेव विवज्जई।
एक्कस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरओ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १४)

[१४] एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ।
एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाइ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १५)

[१५] एक्को मे सासओ अप्पा नाण-दंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १६)

[११] (i) मूलगुण उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं।
तमहं सव्वं निंदे पडिक्कमे आगमिस्साणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २९)

(ii) मूलगुणउत्तरगुणे जो मे णाराहिओ पमाएण।
तमहं सव्वं णिंदे पडिक्कमे आगममिस्साणं॥
(मूलाचार, गाथा ५०)

[१२] (i) एक्को हं नत्थि मे कोई, नत्थि वा कस्सई अहं।
न तं पेक्खामि जस्साहं, न तं पेक्खामि जो महं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १६१)

(ii) एगो हं नत्थि मे कोई, न याऽहमवि कस्सई।
वरं धम्मो जिणक्खाओ एत्थं मज्झ बिइज्जओ॥
(आराधनाप्रकरण, गाथा ६४)

[१३] (i) एगो य मरदि जीवो एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं एगो सिज्झदि णीरओ॥
(नियमसार, गाथा १०१)

(ii) एओ य मरइ जीवो एओ य उववज्जइ।
एयस्स जाइमरणं एओ सिज्झइ णीरओ॥
(मूलाचार, गाथा ४७)

[१४] एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं॥
(मूलाचार, गाथा ७०१)

[१५] (i) एगो मे सासओ अप्पा नाणदंसणसंजुओ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १६०)
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २७)
(आराधनाप्रकरण, गाथा, ६७)
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा २९)

(ii) एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(नियमसार, गाथा १०२)

(iii) एओ मे सस्सओ अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥
(मूलाचार, गाथा ४८)

[१६] संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसिरे॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १७)

[१७] अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वओ वि य ममत्तं।
जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १८)

[१८] जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु।
ते हं आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २०)

[१९] उप्पन्नाऽणुप्पन्ना माया अणुमग्गओ निहंतव्वा।
आलोयण-निंदण-गरिहणाहिं न पुण त्ति या बीयं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २१)

[२०] जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा माया-मयविप्पमुक्को उ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २२)

(iv) एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
(भावपाहुड, गाथा ५९)

[१६] संजोयमूलं जीवेण पत्तं दुक्खपरंपरं ।
तम्हा संजोयसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसरे ॥
(मूलाचार, गाथा ४९)

[१७] (i) अस्संजममन्नाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तं ।
जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३१)

(ii) अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्ति ।
जीवेसु अजीवेसु य तं णिंदे तं च गरिहामि ॥
(मूलाचार, गाथा ५१)

[१८] (i) जे मे जाणंति जिणा अवराहे नाण-दंसण-चरित्ते ।
ते सव्वे आलोए उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १३२)

(ii) जे मे जाणंति जिणा अवराहा [1]जेसु जेसु ठाणेसु ।
ते हं [2]आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥
(मरणविभक्ति, गाथा १२०)
(आराधनापताका (१), गाथा २०७)
(आतुरप्रत्याख्यान (२), गाथा ३१)

(iii) जे मे जाणंति जिणा अवराहे जेसु जेसु ठाणेसु ।
तेहं आलोएतुं उवट्ठितो सव्वभावेण ॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३८७३)

[१९] उप्पण्णाणुप्पण्णा, माया अणुमग्गतो णिहंतव्वा ।
आलोयण निंदण गरहणा ते ण पुणो वि बिइयंति ॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३८६४)

[२०] (i) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ ।
तं तह आलोएज्जा मायामोसं पमोत्तूणं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ३३)

---

१. तेसु तेसु ठा० आतुरप्रत्याख्यान ॥
२. ०लोएउं आराधनापताका ॥

[२१] सोही उज्जुयभूयस्य धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घयसित्ते व पावए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २३)

[२२] न हु सिज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरियसव्वसल्लो सिज्झइ जीवो धुयकिलेसो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २४)

[२३] न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं दुप्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्धो॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २७)

(ii) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य ॥
(आराधनापताका, गाथा १७२)
(आराधनाप्रकरण, गाथा १८)

(iii) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०१)
(पंचाशक, गाथा ७४१)

(iv) जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणति।
तं तह आलोएज्जा, मायामदविप्पमुक्को उ ॥
(निशीथसूत्रभाष्य, गाथा ३८६३)

(v) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणदि।
तह आलोचेयव्वं माया मोसं च मोत्तूण ॥
(मूलाचार, गाथा ५६)

(vi) जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं व उज्जुअं भणइ।
तह आलोचेदव्वं मायामोसं च मोत्तूण ॥
(भगवती आराधना, गाथा ५४९)

[२१] सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ घय-सित्त व्व पावए ॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ३/१२)

[२२] न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरिय सव्वसल्लो [1]सुज्झइ जीवो धुयकिलेसो ॥
(आराधनापताका, गाथा २१८)
(आराधनाप्रकरण, गाथा ८)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ७९८)

[२३] न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व [2]पमाइओ कुद्धो ॥
(आराधनापताका, गाथा २१५)
(आराधनाप्रकरण, गाथा ५)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०३)
(पंचाशक, गाथा ७२१)

१. आराधनाप्रकरण में 'सुज्झइ' के स्थान पर 'सिज्झइ'।
२. 'पमाइओ' के स्थान पर आराधनाप्रकरण में 'पमायओ' और ओघनिर्युक्ति में 'पमाइणो'।

[२४] जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि ।
दुल्लंभबोहियत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २८)

[२५] तो उद्धरंति गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा २९)

[२६] कयपावो वि मणूसो आलोइय निंदिउं गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरू व्व भारवहो ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ३०)

[२७] सव्व पाणारंभं पच्चक्खामी य अलियवयणं च ।
सवमदिन्नादाणं अब्बंभ परिग्गहं चेव ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ३३)

[२८] रागेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु ।
तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥३६॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ३६)

[२९] उड्ढमहे तिरियम्मि य मयाइं बहुयाइं बालमरणाइं ।
तो ताइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४१)

[२४] जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं [1]उत्तमट्ठकालम्मि ।
दुल्लहबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥
(आराधनापताका, गाथा २१६)
(आराधनाप्रकरण, गाथा ६)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०४)
(पंचाशक, गाथा ७३२)

[२५] तो उद्धरंति गारवरहिया[2] मूलं पुणब्भवलयाणं ।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥
(आराधनापताका, गाथा २१७)
(आराधनाप्रकरण, गाथा ७)
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०५)

[२६] कदपावो वि मणुस्सो आलोयणणिंदओ गुरुसयासे ।
होदि अचिरेण लहुओ उरूहिय भारोव्व भारवहो ॥
(भगवती आराधना, गाथा ६१५)

[२७] (i) सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामि त्ति अलियवयणं च ।
[3]सव्वमदिन्नादाणं मेहुण्ण परिग्गहं चेव ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा १३)
(आराधनापताका, गाथा ५६३)
(मूलाचार, गाथा ४१)

(ii) सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खाई मि अलियवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणं अब्बंभ परिग्गहं सव्वहा ॥
(आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२८४)

[२८] रागेण व दोसेण व मणपरिणामेण दूसिदं जं तु ।
तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ॥
(मूलाचार, गाथा ६४५)

[२९] (i) उड्ढमहे तिरियम्मि वि मयाणि जीवेण बालमरणाणि ।
दंसण-नाणसहगओ पंडियमरणं अणुमरिस्सं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ४७)

---

१. आराधनाप्रकरण तथा पंचाशक में 'उत्तम°' के स्थान पर 'उत्तिम°' ।

२. ओघनिर्युक्ति में '°रहिया' के स्थान पर '°रहिता' ।

३. आराधनापताका में '°दिन्नादाणं मेहुण्ण' के स्थान पर 'दित्तादाणं मेहुणय' तथा मूलाचार में 'दत्तादाणं मेहूण' ।

[३०] माया-पिइ-बंधूहिं संसारत्थेहिं पूरिओ लोगो।
बहुजोणिवासिएणं न य ते ताणं च सरणं च॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४३)

[३१] एक्को करेइ कम्मं एक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं।
एक्को संसरइ जिओ जर-मरण-चउगईगुविलं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४४)

[३२] उव्वेयणयं जम्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ वा।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४५)

[३३] एक्कं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाइं बहुयाइं।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ सुम्मओ होइ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ४९)

[३४] भवसंसारे सव्वे चउव्विहा पोग्गला मए बद्धा।
परिणामपसंगेणं अट्ठविहे कम्मसंघाए॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ५१)

[३५] आहारनिमित्ताणं मच्छा गच्छंति दारूणे नरए।
सच्चित्तो आहारो न खमो मणसा वि पत्थेउं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ५४)

[३६] तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं।
न इमो जीवो सक्को तिप्पेउं काम-भोगेहिं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ५५)

[३७] हंतूण मोहजालं छेत्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं।
जम्मण-मरणरहट्टं भेत्तूण भवाओ मुच्चिहिसि॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ६६)

(ii) उड्ढमधो तिरियह्मि दु कदाणि बालमरणाणि बहुगाणि ।
दंसणणाणसहगदो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥
(मूलाचार, गाथा ७५)

[३०] माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ६/३)[1]

[३१] एक्को करेइ कम्मं एक्को हिंडदि दीहसंसारे ।
एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ॥
(मूलाचार, गाथा ७०१)

[३२] उव्वेयमरणं जादीमरणं णिरएसु वेदणाओ य ।
एदाणि संभरंतो पंडियमरणं अणुमरिस्से ॥
(मूलाचार, गाथा ७६)

[३३] एगं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाणि बहुगाणि ।
तं मरणं मरिदव्वं जेण मदं सुम्मदं होदि ॥
(मूलाचार, गाथा ११७)

[३४] संसारचक्कवालम्मि मए सव्वेवि पुग्गला बहुसो ।
आहारिदा य परिणामिदा य ण य मे गदा तित्ती ॥
(मूलाचार, गाथा ७९)[2]

[३५] आहारणिमित्तं किर मच्छा गच्छंति सत्तमिं पुढविं ।
सच्चित्तो आहारो ण कप्पदि मणसावि पत्थेदुं ॥
(मूलाचार, गाथा ८२)

[३६] (i) तण-कट्ठेहि व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को तिप्पेउं काम-भोगेहिं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ५१)

(ii) तिणकट्ठेण व अग्गी लवणसमुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
ण इमो जीवो सक्को तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥
(मूलाचार, गाथा ८०)

[३७] हंतूण रागदोसे छेत्तूण य अट्ठकम्मसंखलियं ।
जम्मणमरणरहट्टं भेत्तूण भवाहि मुच्चिहसि ॥
(मूलाचार, गाथा ९०)

१-२. यहाँ शब्द रूप में कुछ भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है ।

[३८] कोहं माणं मायं लोहं पिज्जं तहेय दोसं च।
चइऊण अप्पमत्तो रक्खामि महव्वए पंच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ६८)

[३९] किण्हा नीला काऊ लेसा झाणाइं अट्ट-रोद्दाइं।
परिवज्जितो गुत्तो रक्खामि महव्वए पच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ७१)

[४०] तेऊ पम्हा सुक्का लेसा झाणाइं धम्म-सुक्काइं।
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ७२)

[४१] जइ ताव ते सुपुरिसा गिरिकडग-विसम-दुग्गेसु।
धिइधणियबद्धकच्छा साहिंती अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८१)

[४२] किं पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं।
परलोएणं सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ?॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८२)

[४३] जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहुइं सुणंतेणं।
सक्का हु साहुमज्झे साहेउं अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८३)

[३८] कोहो माणो माया लोभे पिज्जे तहेव दोसे य।
मिच्छत्त वेअ अरइ रइ हास सोगे य दुगंछा ॥
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २४०)

[३९] (i) किण्हा नीला काऊ तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो दुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ३४/५६)

(ii) किण्हा नीला काओ लेस्साओ तिण्णि अप्पसत्थाओ।
पजहइ विरायकरणो संवेगंणुत्तरं पत्तो ॥
(भगवती आराधना, गाथा १९०२)

[४०] (i) तेऊ पम्हा सुक्का तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिन्नि वि जीवो सुग्गइं उववज्जई बहुसो ॥
(उत्तराध्ययनसूत्र, गाथा ३४|५७)

(ii) तेओ पम्हा सुक्का लेस्साओ तिण्णि वि दु पसत्थाओ।
पडिवज्जेइ य कमसो संवेगंणुत्तरं पत्तो ॥
(भगवती आराधना, गाथा १९०३)

[४१] जइ ताव सावयाकुलगिरिकंदर-विसमकडग-दुग्गेसु।
साहिंति उत्तमट्ठं धिइधणियसहायगा धीरा ॥
(आराधनापताका, गाथा ८९)[1]

[४२] (i) किं पुण अणगारसहायगेण अन्नोन्नसंगहबलेण।
परलोइए न सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ? ॥
(आराधनापताका, गाथा ९०)

(ii) किं पुण अणगारसहायएण अण्णोण्णसंगहबलेण।
परलोइयं ण सक्कइ, साहेउं उत्तिमो अट्ठो ॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३९१३)

(iii) किं पुण अणयारसहायगेण कीरयंत पडिकम्मो।
संघे ओलग्गंते आराधेदुं ण सक्केज्ज ॥
(भगवती आराधना, गाथा १५५४)

[४३] (i) जिणवयणमप्पमेयं महुरं कन्नामयं सुणितेणं।
सक्का हु साहुमज्झे संसारमहोयहिं तरिउं ॥
(आराधनापताका, गाथा ९१)

---

१. यहाँ आंशिक रूप से शाब्दिक भिन्नता है।

[४४] धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं।
धन्ना सिलायलगया साहिंती अप्पणो अट्ठं॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८४)

[४५] पुव्वमकारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि।
न भवइ परीसहसहो विसयसुहसमुइओ अप्पा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८६)

[४६] पुव्विं कारियजोगो सामाहिकामो य मरणकालम्मि।
स भवइ परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ८७)

[४७] इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्झो।
अकयपरिकम्म कीवो मुज्झइ आराहणाकाले॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ९३)

(ii) जिणवयणमप्पमेयं, महुरं कण्णाहूति सुणेंतेणं ।
सक्का हु साहुमज्झे, संसारमहोयहिं तरिउं ॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३९१४)

(iii) जिणवयणममिदभूदं महुरं कण्णाहुदिं सुणंतेण ।
सक्का हु संघमज्झे साहेदुं उत्तमं अट्ठं ॥
(भगवती आराधना, गाथा १५५५)

[४४] (i) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
धन्ना सिलायलगया साहंती उत्तमं अट्ठं ॥
(संस्तारक, गाथा ९२)

(ii) धीरपुरिसपन्नत्ते सप्पुरिसनिसेविए अणसणम्मि ।
धन्ना सिलायलगया निरावयक्खा निवज्जंति ॥
(आराधनापताका, गाथा ८८)

(iii) धीरपुरिसपण्णत्ते, सप्पुरिसणिसेविते परमरम्मे ।
धण्णा सिलातलगता णिरावयक्खा णिवज्जंति ॥
(निशीथसूत्र भाष्य, गाथा ३९११)

(iv) धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसणिसेवियं उवणमित्ता ।
धण्णा णिरावयक्खा संथारगया णिसज्जंति ॥
(भगवती आराधना, गाथा १६७१)

[४५] (i) एवमकारिजोगो पुरिसो मरणे उवट्ठिए संते ।
न भवइ परीसहसहो अंगेसु परीसहनिवाए ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ११९)

(ii) पुव्वमकारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
ण भवदि परीसहसहो विसयसुहे मुच्छिदो जीवो ॥
(भगवती आराधना, गाथा १९३)

[४६] (i) पुव्विं कारियजोगो समाहिकामो य मरणकालम्मि ।
भवइ य परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ अप्पा ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा १२०)

(ii) पुव्वं कारिदजोगो समाधिकामो तहा मरणकाले ।
होदि परीसहसहो विसयसुहपरम्मुहो जीवो ॥
(भगवती आराधना, गाथा १९५)

[४७] इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराजियपरस्सो ।
अकदपरियम्म कीवो मुज्झदि आराहणाकाले ॥
(भगवती आराधना, गाथा १९१)

[४८] लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वा वि दुच्चरियं ।
जे न कहिंति गुरूणं न हु ते आराहगा होंति ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ९४)

[४९] न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ९६)

[५०] जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०१)

[५१] न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं धंतं पि समत्थचित्तेणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०२)

[५२] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०३)

[४८] लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वाऽवि दुच्चरिअं।
जे न कहंति गुरूणं न हु ते आराहगा हुंति॥
(उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २१७)

[४९] (i) न वि कारणं तणमओ संथारो न वि य फासुया भूमी।
अप्पा खलु संथारो हवइ विसुद्धे चरित्तम्मि॥
(संस्तारक, गाथा ५३)

(ii) ण वि कारणं तणादोसंथारो ण वि य संघसमवाओ।
साधुस्स संकिलेसंतस्स य मरणावसाणम्मि॥
(भगवती आराधना, गाथा १६६७)[1]

[५०] (i) जं अन्नाणी कम्मं खवेइ [2]बहुयाहिं वासकोडीहिं।
तं णाणी [3]तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमेत्तेणं॥
(संस्तारक, गाथा ११४)
(तित्थोगाली, गाथा १२२३)
(पंचवस्तु, गाथा ५६४)

(ii) जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेणं॥
(प्रवचनसार, गाथा ३/३८)

५१ (i) न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९६)

(ii) न हु तम्मि देसकाले सक्को बारसविहो सुयक्खंधो।
सव्वो अणुचिंतेउं धणियं पि समत्थचित्तेणं॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ५९)

[५२] (i) एक्कम्मि वि जम्मि पते संवेगं कुणति वीयरागमते।
तं तस्स होति णाणं जेण विरागत्तणमुवेति॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५७७)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वच्चए नरोऽभिक्खं।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९३)

---

१. मात्र एक चरण समान है।
२. तित्थोगाली में 'बहुयाहिं' के स्थान पर 'बहुयाहि'।
३. तित्थोगाली में 'तिहिं' के स्थान पर 'तिहि'।

[५३] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
सो तेण मोहजालं छिंदइ अज्झप्पयोगेणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०४)

[५४] एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०५)

[५५] समणो मि त्ति य पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति।
सव्वं च वोसिरामि जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १०८)

[५६] अरहंता मंगलं मज्झ, अरहंता मज्झ देवया।
अरहंते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११५)

[५७] सिद्धा य मंगलं मज्झ, सिद्धा य मज्झ देवया।
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११६)

[५८] आयरिया मंगलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया।
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११७)

[५३] (i) एक्कम्मि वि जम्मि पते संवेगं कुणति वीतरागमते ।
सो तेण मोहजालं छिन्दति अज्झप्पजोगेणं ॥
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३५७८)

(ii) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं खवेइ अज्झप्पजोगेणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९५)

[५४] (i) एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरागमग्गम्मि ।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणंते न मोत्तव्वं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९४)

(ii) एगम्मि वि जम्मि पए संवेगं वीयरायमग्गम्मि ।
गच्छइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६०)

(iii) एक्कम्मि वि जम्मि पदे संवेगं वीदरायमग्गम्मि ।
गच्छदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥
(भगवती आराधना, गाथा ७७४)

(iv) एक्कह्मि बिदियह्मि पदे संवेगो वीयरायमग्गम्मि ।
वच्चदि णरो अभिक्खं तं मरणंते ण मोत्तव्वं ॥
(मूलाचार, गाथा ९३)

[५५] (i) समणो त्ति अहं पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति ।
सव्वं च वोसिरामी, एयं भणियं समासेणं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६३)

(ii) समणो मेत्ति य पढमं बिदियं सव्वत्थ संजदो मेत्ति ।
सव्वं च वोस्सरामि य एदं भणिदं समासेण ॥
(मूलाचार, गाथा ९८)

[५६] अरहंता मंगलं मज्झ, अरहंता मज्झ देवया ।
अरहंते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा १)

[५७] सिद्धा य मंगलं मज्झ, सिद्धा य मज्झ देवया ।
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा २)

[५८] आयरिया मंगलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया ।
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ३)

[५९]　उज्झाया मंगलं मज्झ, उज्झाया मज्झ देवया ।
उज्झाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११८)

[६०]　साहु य मंगलं मज्झ, साहू य मज्झ देवया ।
साहू य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा ११९)

[६१]　आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज नेव्वाणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १३१)

[६२]　सम्मं मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।
खामेमि सव्वजीवे, खमामऽहं सव्वजीवाणं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १४०)

[६३]　धीरेण वि मरियव्वं काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं ।
दोण्हं पि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १४१)

[६४]　एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं ।
वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवा वि सिज्झेज्जा ॥
(महाप्रत्याख्यान, गाथा १४२)

[५९] उज्झाया मंगलं मज्झ, उज्झाया मज्झ देवया ।
उज्झाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ४)

[६०] साहवो मंगलं मज्झ, साहवो मज्झ देवया ।
साहवो कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान (१), गाथा ५)

[६१] (i) आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥
(ओघनिर्युक्ति, गाथा ८०८)

(ii) आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिण्णि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥
(चन्द्रवेध्यक, गाथा ९८)

(iii) आराहण उवजुत्तो कालं काऊण सुविहिओ सम्मं ।
उक्कस्सं तिण्णि भवे गंतूण य लहइ निव्वाणं ॥
(मूलाचार, गाथा ९७)

[६२) (i) सम्मं मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई ।
आसाओ वोसिरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा २२)

(ii) सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसा वोसिरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥
(मूलाचार, गाथा ४२)

(iii) सम्मं मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।
आसाए वोसरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥
(नियमसार, गाथा १०४)

[६३] (i) धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं ।
दोण्हं पि हु मरियव्वे वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥
(आतुरप्रत्याख्यान, गाथा ६५)

(ii) धीरेण वि मरिदव्वं णिद्धीरेण वि अवस्स मरिदव्वं ।
जदि दोहिं वि मरिदव्वं वरं हि धीरत्तणेण मरिदव्वं ॥
(मूलाचार, गाथा १००)

[६४] एदं पच्चक्खाणं जो काहदि मरणदेसयालम्मि ।
धीरो अमूढसण्णो सो गच्छइ उत्तमं ठाणं ॥
(मूलाचार, गाथा १०५)[1]

---

१. यहाँ शब्द रूप में भिन्नता होते हुए भी भावगत समानता है ।

इस तुलनात्मक अध्ययन में हम यह पाते हैं कि महाप्रत्याख्यान की १४२ गाथाओं में से ४ गाथाएँ आगम साहित्य में, ८ गाथाएँ निर्युक्तियों में, ८ गाथाएँ भाष्य साहित्य में तथा मरणविभक्ति के अतिरिक्त ६० गाथाएँ अन्य प्रकीर्णकों में भी उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक शौरसेनी यापनीय आगम तुल्य साहित्य का प्रश्न है, महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की लगभग ४५ गाथाएँ मूलाचार और भगवती आराधना में भी उपलब्ध होती है। यापनीय साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना में हम देखते हैं कि इनमें महाप्रत्याख्यान ही नहीं अपितु अनेकानेक प्रकीर्णकों की गाथाएँ शौरसेणी और अर्द्धमागधी भाषायी रूपान्तरण को छोड़कर यथावत रूप में आत्मसात कर ली गई हैं। मूलाचार में आवश्यक-निर्युक्ति की अधिकांश गाथाएँ तथा समग्र आतुरप्रत्याख्यान का समाहित कर लिया जाना यही सूचित करता है कि प्रारम्भ में यापनीय परम्परा को प्रकीर्णक साहित्य मान्य था, किन्तु परवर्ती काल में जब प्रकीर्णक साहित्य एवं निर्युक्तिसाहित्य की गाथाओं के आधार पर मूलाचार और भगवती आराधना जैसे ग्रन्थों की रचना हो गई तो उस परम्परा में प्रकीर्णकों और निर्युक्तियों के अध्ययन की परम्परा भी विलुप्त हो गई। दिगम्बर साहित्य में ही हमें एक ऐसी भी गाथा उपलब्ध होती है जिसमें कहा गया है कि आचारांग आदि अंग ग्रन्थ एवं पूर्व प्रकीर्णक जिनेन्द्र देवों द्वारा प्ररूपित हैं।[1]

चाहे प्रत्यक्ष रूप में हो अथवा यापनीय साहित्य मूलाचार और भगवती आराधना के माध्यम से हो, प्रकीर्णक साहित्य की अनेक गाथाएँ कुन्दकुन्द के साहित्य में भी उपलब्ध होती है। अकेले महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक की ९ गाथाएँ कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रन्थों में उलपलब्ध हो जाती हैं। भगवती आराधना और मूलाचार में इन गाथाओं की उपस्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में ये गाथाएँ भगवती आराधना और मूला-चार से ही अनुस्यूत हुई हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या यह सम्भव नहीं कि कुन्दकुन्द साहित्य से ही ये गाथाएँ प्रकीर्णकों में गई हो ? इस प्रश्न का सीधा और स्पष्ट उत्तर यही है कि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि कुन्दकुन्द छठीं शताब्दी से पूर्व के आचार्य नहीं हैं।

---

१. "आयारादी अंगा पुव्वपइण्णा जिणेहि पण्णत्ता।
जे जे विराहिया खलु मिच्छा में दुक्कडं हुज्ज॥"
—सिद्धान्तसारादिसंग्रह—कल्लाणालोयणा, गाथा २८
(माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई)

कुन्दकुन्द को पर्याप्त रूप से प्राचीन बताने वाला 'मर्करा अभिलेख' इतिहास के विद्वानों द्वारा जाली प्रमाणित किया जा चुका है।[1] मर्करा अभिलेख को जाली प्रमाणित किये जाने के पश्चात् नवीं शताब्दी से पूर्व का ऐसा कोई अन्य अभिलेख उपलब्ध नहीं है जिसमें कुन्दकुन्द या उनके अन्वय का उल्लेख हुआ हो। पुनः टीका और व्याख्याओं के युग में हुए कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर अमृतचन्द्र (दसवीं शताब्दी)[2] के पूर्व किसी अन्य आचार्य के द्वारा टीका का न लिखा जाना भी यह सिद्ध करता है कि कुन्दकुन्द पर्याप्त रूप से परवर्ती है। कुन्दकुन्द के साहित्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा मिलती है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कुन्दकुन्द पाँचवीं शताब्दी के बाद के आचार्य हैं, क्योंकि गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा चौथी-पाँचवीं शताब्दी में निर्मित हुई है यह उल्लेख हमने भूमिका के पूर्व पृष्ठों में भी किया है।[3] इस प्रकार कुन्दकुन्द को ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में ले जाने का प्रयत्न न तो किसी अभिलेखीय साक्ष्य से सिद्ध होता है और न कोई ऐसा साहित्यिक साक्ष्य ही इस सम्बन्ध उपलब्ध होता है जो कुन्दकुन्द को प्रथम शताब्दी का प्रमाणित कर सके। कुन्दकुन्द के काल निर्धारण में हम प्रो० मधुसुदन ढाकी से सहमत हैं उनके अनुसार कुन्दकुन्द लगभग छठीं शताब्दी के बाद के आचार्य हैं।[4] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान की गाथाएँ भगवती आराधना और मूलाचार से कुन्दकुन्द साहित्य में गई हैं।

इस तुलनात्मक अध्ययन में यह प्रश्न भी स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली समान गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों से इस ग्रन्थ में आई है अथवा इस ग्रन्थ से ये गाथाएँ आगम एवं निर्युक्तियों में गई हैं? जहाँ तक आगम साहित्य का प्रश्न है तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि महाप्रत्याख्यान में उपलब्ध होने वाली

---

1. Prof. M. A, Dhaky—
   Aspects of Jainology, Vol. 3,
   Dalsukh Bhai Malvania felicitation, Vol. 1, Page 190.
२. नाथुराम प्रेमी—पुरुषार्थसिद्धउपाय, भूमिका पृष्ठ ४।
३. देखें—भूमिका पृष्ठ १६-१७।
4. Prof. M. A. Dhaky—
   Aspects of Jainology, Vol. 3,
   Dalsukh Bhai Malvania felicitation, Vol. 1, Page 196.

चारों समान गाथाएँ इसमें आगम साहित्य से ही ली गई हैं, क्योंकि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन सूत्र की हैं और वहाँ वे अपने समुचित स्थान एवं क्रम में हैं। साथ ही उत्तराध्ययन महाप्रत्याख्यान की अपेक्षा प्राचीन भी है, अतः यह निश्चित है कि ये चारों गाथाएँ उत्तराध्ययन से ही महाप्रत्याख्यान में गई हैं। पुनः इस ग्रन्थ में द्वादश-विध श्रुतस्कन्ध का उल्लेख हुआ है।[1] उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि महाप्रत्याख्यान से पूर्व अंग आगम साहित्य की रचना हो चुकी थी।

जहाँ तक निर्युक्ति साहित्य का प्रश्न है, उसमें महाप्रत्याख्यान की ८ गाथाएँ पाई जाती है, इन आठ गाथाओं में से भी अधिकांश गाथाएँ मात्र ओघनिर्युक्ति में पाई जाती हैं। हमें ऐसा लगता है कि ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई है, क्योंकि ओघनिर्युक्ति का उल्लेख नन्दीसूत्र में नहीं है, जबकि महाप्रत्याख्यान का उल्लेख नन्दीसूत्र में है। अतः यह मानना होगा कि ओघनिर्युक्ति की रचना महाप्रत्याख्यान के बाद ही हुई है, इस आधार पर यह कहना अधिक युक्तिसंगत लगता है कि ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही ओघनिर्युक्ति में गई होगी।

चूर्णि साहित्य के विषय में तो हम यही कहना चाहेंगे कि चूर्णियों की रचना प्रकीर्णक साहित्य के बाद ही हुई है, क्योंकि नन्दीचूर्णि में तो महाप्रत्याख्यान का स्पष्ट नामोल्लेख भी उपलब्ध होता है।[2] पुनः चूर्णियाँ तो मूलतः गद्य में ही लिखी गई हैं अतः उनमें महाप्रत्याख्यान की कोई गाथा उद्धृत भी हो तो यही मानना होगा कि उनमें ये गाथाएँ महाप्रत्याख्यान से ही गई हैं, क्योंकि कालक्रम की दृष्टि से जहाँ चूर्णियाँ सातवीं शताब्दी की है वहीं महाप्रत्याख्यान पाँचवीं शताब्दी के पूर्व की रचना है।

अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक एक साधना प्रधान ग्रन्थ है। इसमें मुख्य रूप से समाधिमरण तथा उसकी पूर्व प्रक्रिया का निर्देश उपलब्ध होता है। समाधिमरण जैन साधना का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है। जैन परम्परा में साधक चाहे मुनि हो अथवा गृहस्थ, उसे समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। महाप्रत्याख्यान की कुछ गाथाएँ ऐसी हैं जो साधक को समाधिमरण ग्रहण करने की प्रेरणा देती हैं, कुछ अन्य गाथाएँ ऐसी भी हैं जो आलोचना आदि का निर्देश करती हैं, वस्तुतः वे समाधिमरण की पूर्व प्रक्रिया के रूप में

---

१. महाप्रत्याख्यान, गाथा १०२।

२. नन्दीचूर्णि, सूत्र ८१।

ही हैं। शेष अन्य गाथाओं का प्रयोजन साधक को समाधिमरण की स्थिति में अपनी मनोवृत्तियों को किस प्रकार रखना चाहिए, इसका निर्देश करना है।

समाधिमरण की अवधारणा जैन आगम साहित्य में आचारांग के काल से ही पाई जाती है। आचारांग का प्रथम श्रुत स्कन्ध न केवल समाधिमरण की प्रेरणा देता है, अपितु उसकी प्रक्रिया भी स्पष्ट करता है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र के पाँचवें अध्याय में बालमरण और पंडितमरण के स्वरूप को लेकर विस्तृत चर्चा है।[2] जैन साहित्य में वर्णित अनेक जीवन चरित्र भी साधना के अन्त में समाधिमरण ग्रहण करते हुए ही चित्रित किये गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ महाप्रत्याख्यान जैसाकि इसके नाम से ही स्पष्ट है,यह भी समाधिमरण का ही सूचक है या दूसरे शब्दों में कहें तो यह समाधिमरण से ही संबंधित ग्रन्थ है।

समाधिमरण का तात्पर्य है कि जब मृत्यु जीवन के द्वार पर उपस्थित होकर अपने आगमन की सूचना दे रही हो तो साधक को चाहिए कि वह देह पोषण के प्रयत्नों का परित्याग कर दे तथा शरीर के प्रति निर्ममत्व भाव की साधना करे और द्वार पर उपस्थित मृत्यु से मुँह छिपाने की अपेक्षा उसके स्वागत हेतु स्वयं को तत्पर रखे। वस्तुतः समाधिमरण शान्त भाव से मृत्यु का आलिङ्गन करने की प्रक्रिया है वह साधना की परीक्षा घड़ी है। इसे हम यों समझ सकते हैं कि यदि किसी साधक ने जीवनभर वीतरागता और समता की साधना की हो, किन्तु मृत्यु के समय पर यदि वह विचलित हो जाए तो उसकी सम्पूर्ण साधना एक प्रकार से वैसे ही निष्फल हो जाती है, जैसे कोई विद्यार्थी यदि परीक्षा में सफल नहीं होता है तो उसका अध्ययन सार्थक नहीं माना जाता है। समाधिमरण हमारे जीवन की साधना की परीक्षा है और महाप्रत्याख्यान हमें उसी परीक्षा में खरा उतरने का निर्देश देता है।

समाधिमरण न तो जीवन से पलायन है और न ही आत्महत्या है, अपितु वह मृत्यु के आलिङ्गन की एक कला है और जिसने यह कला नहीं सीखी, उसका जीवन सार्थक नहीं बन पाता है। एक उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है—

---

१. आचारांग, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ८, उद्देशक ६-८।

२. उत्तराध्ययन ५/२-३।

जो देखी हिस्ट्री, इस बात पर कामिल यकी आया।
उसे जीना नहीं आया, जिसे मरना नहीं आया॥

वस्तुतः महाप्रत्याख्यान हमारे सामने एक ऐसी अनासक्त जीवन दृष्टि प्रस्तुत करता है जिससे हमारा जन्म और मरण दोनों ही सार्थक बन जाते हैं। महाप्रत्याख्यान की इस जीवन दृष्टि को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

लाई हयात आ गए, कजा ले चली चले चले।
न अपनी खुशी आए, न अपनी खुशी गए॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाप्रत्याख्यान एक ऐसा ग्रन्थ है जो हमें जीवन जीने की नवीन दृष्टि प्र दान करता है। ऐसे उदात्त जीवन मूल्यों को प्रतिपादित करने वाले प्रकीर्णक साहित्य को आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर ने सानुवाद प्रकाशित करने का जो निर्णय किया है उसकी सार्थकता तभी है जब इन प्रकोर्णकों का अध्ययन करके हम इनमें प्रतिपादित जीवन मूल्यों को अपने जीवन में उतार सकें।

वाराणसी सागरमल जैन
१२ दिम्सबर, १९९१ सुरेश सिसोदिया

महापच्चक्खाणपइण्णयं

(महाप्रत्याख्यान-प्रकीर्णक)

महापच्चक्खाणपइण्णयं

(मंगलमभिधेयं च)

एस करेमि पणामं तित्थयराणं अणुत्तरगईणं ।
सव्वेसिं च जिणाणं सिद्धाणं संजयाणं च ॥ १ ॥

सव्वदुक्खप्पहीणाणं सिद्धाणं अरहओ नमो ।
सद्दहे जिणपन्नत्तं पच्चक्खामि य पावगं ॥ २ ॥

(तिविहा वोसिरणा)

जं किंचि वि दुच्चरियं तमहं निंदामि सव्वभावेणं ।
सामाइयं च तिविहं करेमि सव्वं निरागारं ॥ ३ ॥

बाहिरऽब्भंतरं उवहिं सरीरादि सभोयणं ।
मणसा वय काएणं सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ ४ ॥

रागं[1] बंधं पओसं च हरिसं दीणभावयं ।
उस्सुगत्तं भयं सोगं रइमरइं[2] च वोसिरे ॥ ५ ॥

(सव्वजीवखामणा)

रोसेण पडिनिवेसेण अकयण्णुयया[3] तहेव सढयाए ।
जो मे किंचि वि भणिओ[4] तमहं तिविहेण खामेमि ॥ ६ ॥

खामेमि [5]सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
[6]आसवे वोसिरित्ताणं समाहिं पडिसंधए ॥ ७ ॥

---

१. रागबंधं सा० । २. °रयं च सं० । ३. °ण्णुयाए तहेवऽसज्झाए पु० सा० ।
४. °ओ तिविहं तिविहेण सापा० । ५. सव्वे जीवे सं० । ६. आसावो
वो° पु० सा० ।

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक

(मंगल और अभिधेय)

(१) इस प्रकार (मैं) सिद्धगति को प्राप्त समस्त तीर्थंकरों, जिन-देवों, सिद्धों और संयमियों को प्रणाम करता हूँ।

(२) समस्त दुःखों से सर्वथा मुक्त सिद्धों और अर्हतों को नमस्कार हो। जिनप्रज्ञप्त तत्त्व-स्वरूप पर (मैं) श्रद्धा रखता हूँ और पापकर्म का प्रत्याख्यान करता हूँ।

(विविध प्रत्याख्यान)

(३) जो कुछ भी मेरा दुश्चरित्र है, उसकी (मैं) सर्वभाव से निंदा करता हूँ और सभी प्रकार के अपवाद से रहित सामायिक को त्रिविध रूप से ग्रहण करता हूँ।

(४) (समाधिमरण ग्रहण करने वाला साधक) सभी प्रकार के बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह, भोजन एवं शरीर आदि का मनसा, वाचा एवं कर्मणा तीनों प्रकार से त्याग करे।

(५) (साधक) राग-द्वेष रूप बन्धन, हर्ष-विषाद, उत्सुकता, भय-शोक और रति-अरति (सभी) का त्याग करे।

(सर्व जीव क्षमापना)

(६) (साधक ऐसा कहे कि) रोष, पश्चाताप, कृतघ्नता तथा कपट-वृत्ति से जो कुछ भी मेरे द्वारा कहा गया है, उसके लिए मैं त्रिविध रूप से क्षमा माँगता हूँ।

(७) समस्त जीवों को (मैं) क्षमा करता हूँ, समस्त जीव मुझे क्षमा करें। आश्रवों को त्यागकर (मैं) समाधि का प्रतिसन्धान करता हूँ (अर्थात् अपने को समाधि से योजित करता हूँ)।

(निंदणा-गरहणा-आलोयणाओ)

निंदामि निंदणिज्जं गरहामि य जं च मे गरहणिज्जं।
आलोएमि य सव्वं जिणेहिं जं जं च [1]पडिकुट्ठं ॥ ८ ॥

(ममत्तछेयणं आयधम्मसरूवं च)

उवही सरीरगं चेव आहारं च चउव्विहं।
ममत्तं सव्वदव्वेसु परिजाणामि केवलं ॥ ९ ॥
ममत्तं परिजाणामि निम्ममत्ते उवट्ठिओ।
आलंबणं च मे आया अवसेसं च वोसिरे ॥१०॥
आया मज्झं नाणे आया मे दंसणे चरित्ते य।
आया पच्चक्खाणे आया मे संजमे जोगे ॥११॥

(मूलुत्तरगुणाराहणापुव्वं निंदणाइपरूवणं)

मूलगुणे उत्तरगुणे जे मे नाऽऽराहिया पमाएणं।
ते सव्वे निंदामि पडिक्कमे आगमिस्साणं ॥१२॥

(एगत्तभावणा)

एक्को हं नत्थि मे कोई, न चाहमवि कस्सई।
एवं अदीणमणसो अप्पाणमणुसासए ॥१३॥
एक्को उप्पज्जए जीवो, एक्को चेव विवज्जई।
एक्कस्स होइ मरणं एक्को सिज्झइ नीरओ ॥१४॥

---

१. पडिसिद्धं सा० ।

(निन्दा, गर्हा और आलोचना)

(८) निन्दा करने योग्य की (मैं) निन्दा करता हूँ और गर्हा करने योग्य मेरे जो दोष हैं, उनकी गर्हा करता हूँ तथा जो-जो भी (पाप कर्म) जिनदेवों के द्वारा निषिद्ध हैं, उन सबकी (मैं) आलोचना करता हूँ।

(ममत्व छेदन और आत्म-धर्म स्वरूप)

(९) शरीर संबंधी चारों प्रकार के आहार, उपकरण तथा सर्वद्रव्यों की असहाय-दशा एवं उनके प्रति रहे हुए (मेरे) ममत्व को (मैं) जानता हूँ।

(१०) निर्ममत्व (अर्थात् वैराग्य भाव) में उपस्थित ममत्व को (मैं) जानता हूँ। आत्मा ही मेरा आलम्बन है (यह जानकर साधक) शेष सभी (परद्रव्यों का) त्याग करे।

(११) आत्मा मेरा ज्ञान है, आत्मा ही मेरा दर्शन और चारित्र है। आत्मा ही प्रत्याख्यान है तथा आतमा ही मेरा संयम और योग (कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया) है।

(मूलगुण, उत्तरगुण की आराधना पूर्वक आत्म-निन्दा)

(१२) प्रमाद के कारण मूलगुण और उत्तरगुण में जिन (गुणों) की आराधना मैं नहीं कर पाया हूँ, उन सबकी निन्दा करता हूँ एवं प्रतिक्रमण करता हूँ तथा भविष्य में आने वाले (दोषों का प्रत्याख्यान करता हूँ)।

(एकत्व भावना)

(१३) मैं अकेला हूँ, मेरा कोई भी नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ। इस प्रकार निरपेक्ष भाव से (साधक) आत्मा को अनुशासित करे।

(१४) जीव अकेला उत्पन्न होता है और अकेला ही नष्ट हो जाता है। अकेले की ही मृत्यु होती है (तथा) अकेला ही कर्मरूपी मल से रहित होकर मुक्त (भी) होता है।

एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सेक्कओ समणुहवइ ।
एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाइ ॥१५॥
एक्को मे सासओ अप्पा नाण-दंसणलक्खणो[1] ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥१६॥

(संजोगसंबंधवोसिरणा)

संजोगमूला जीवेणं पत्ता दुक्खपरंपरा ।
तम्हा संजोगसंबंधं सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥१७॥

(असंजमाईणं निंदणा मिच्छत्तचागो य)

अस्संजममण्णाणं मिच्छत्तं सव्वओ वि य ममत्तं ।
जीवेसु अजीवेसु य तं निंदे तं च गरिहामि ॥ १८ ॥
मिच्छत्तं परिजाणामि सव्वं अस्संजमं अलीयं च ।
सव्वत्तो य ममत्तं चयामि [2]सव्वं च खामेमि ॥ १९ ॥

(अण्णायावराहालोयणा)

जे मे जाणंति जिणा अवराहा जेसु जेसु ठाणेसु ।
[3]ते हं आलोएमी उवट्ठिओ सव्वभावेणं ॥ २० ॥

(मायानिहणणोवएसो)

उप्पन्नाऽणुप्पन्ना माया अणुमग्गओ निहंतव्वा ।
आलोयण-निंदण-गरिहणाहिं न पुण त्ति या बीयं ॥ २१ ॥

---

१. °णसंजुओ । पु० सा० ।
२. सव्वं खमावेमि पु० सा० ।
३. तं तह आ° सा० ।

(१५) (जीव) अकेला कर्म करता है, उसके फल को भी अकेला ही भोगता है। अकेला जन्म लेता है, मरता है तथा अकेला ही परलोक को जाता है।

(१६) ज्ञान-दर्शन से युक्त यह अकेली शाश्वत [1]आत्मा ही मेरी (स्व) है (तथा) संयोग लक्षण से युक्त शेष समस्त पदार्थ मेरे लिए बाह्य (पर) है।

(संयोग सबन्ध परित्याग)

(१७) संयोग संबंध के कारण ही जीव दुःख परम्परा को प्राप्त होते हैं इसलिए (साधक) समस्त सांयोगिक संबंधों को तीनों प्रकार से त्यागे।

(असंयम आदि की निन्दा और मिथ्यात्व का त्याग)

(१८) असंयम, अज्ञान, मिथ्यात्व तथा सभी जीव-अजीवों में निहित ममत्व—उन (सब) की (मैं) निन्दा और गर्हा करता हूँ।

(१९) सब प्रकार के असंयम, अप्रामाणिकता और मिथ्यात्व को मैं जानता हूँ। इसलिए सब प्रकार से ममत्व का त्याग करता हूँ और सबसे (मैं) क्षमायाचना करता हूँ।

(अज्ञात अपराध आलोचना)

(२०) जिन-जिन स्थितियों में मेरे द्वारा जो-जो अपराध हुए हैं, (उन सबको) तीर्थंकर जानते हैं। इसलिए मैं उन (अपराधों) को सर्वथा प्रकार से आलोचना करने के लिए उपस्थित हुआ हूँ।

(माया निहनन उपदेश)

(२१) उत्पन्न या अनुत्पन्न माया परित्याग करने योग्य है। निन्दा और गर्हा से (वह) पुनः उत्पन्न नहीं होती।

---

१. संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में आत्मा पुल्लिङ्ग शब्द है किन्तु हिन्दी भाषा में आत्मा शब्द स्त्रीलिङ्ग रूप में प्रयुक्त होता है। यहाँ भी स्त्रीलिंग रूप में ही अर्थ किया गया है।

(आलोयगस्स सरूवं मोक्खगामित्तं च)

जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोइज्जा माया-मयविप्पमुक्को[1] उ॥ २२॥

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ [2]घयसित्ते व पावए॥ २३॥

(सल्लुद्धरणपरूवणा)

न हु सिज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं।
उद्धरियसव्वसल्लो सिज्झइ जोवो धुयकिलेसो॥ २४॥

सुबहुं पि [3]भावसल्लं जे आलोयंति गुरुसगासम्मि।
निस्सल्ला संथारगमुवेंति आराहगा होंति॥ २५॥

अप्पं पि भावसल्लं जे णाऽऽलोयंति गुरुसगासम्मि।
धंतं पि सुयसमिद्धा न हु ते आराहगा होंति॥ २६॥

न वि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो।
जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमायओ कुद्धो॥ २७॥

जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालम्मि।
दुल्लंभबोहियत्तं अणंतसंसारियत्तं च॥ २८॥

तो उद्धरंति गारवरहिया मूलं पुणब्भवलयाणं।
मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च॥ २९॥

(आलोयणाफलं)

कयपावो वि मणूसो आलोइय निंदिउ गुरुसगासे।
होइ अइरेगलहुओ ओहरियभरु[4] व्व भारवहो॥ ३०॥

---

१. °मुक्केणं। सं०।
२. °यसित्ति व्व पा° पु०। °यसित्तु व्व पा° सा०।
३. °सल्लं आलोएऊण गुरु° पु० सा०।
४. ०भरो व्व सं०।

(आलोचक का स्वरूप और मोक्षगामित्व)

(२२) जिस प्रकार बालक (अपने) कार्य-अकार्य को सहजभाव से व्यक्त कर देता है उसी प्रकार साधक को (अपने समस्त दोषों की) आलोचना कपट एवं अहंकार का त्याग करके करनी चाहिए।

(२३) सरलचित्त वाले की ही शुद्धि होती है और जिसका चित्त शुद्ध है उसमें ही धर्म स्थित रहता है तथा (जिसमें धर्म स्थित रहता है, वह ही) परम निर्वाण को प्राप्त करता है, जैसे घी से सिक्त अग्नि।

(शल्योद्धरण प्ररूपणा)

(२४) जिनशासन में इस प्रकार कहा गया है कि कर्मरज से रहित व्यक्ति भी यदि माया आदि तीन शल्यों से युक्त है तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं करता है। किन्तु जिस जीव ने समस्त शल्यों का मोचन कर दिया है, वह क्लेश रहित जीव मुक्ति को प्राप्त करता है।

(२५) अत्यधिक भाव शल्य से युक्त जो (शिष्य) गुरु के समीप (अपनी) आलोचना कर लेते हैं, (वे) समाधिमरण को प्राप्त करते हैं और आराधक होते हैं।

(२६) अल्पतम भाव-शल्य से युक्त जो (शिष्य) गुरु के समीप (अपनी) आलोचना नहीं करते हैं, वे श्रुतज्ञान से समृद्ध होते हुए भी आराधक नहीं होते हैं।

(२७-२८) दुष्प्रयुक्त शस्त्र, विष, प्रेत, असम्यक् प्रकार से संचालित यन्त्र एवं क्रुद्ध सर्प भी प्रमादी का उतना अनिष्ट नहीं करते जितना अनिष्ट समाधिकाल में मन में रहे हुए माया, मिथ्यात्व एवं निदान रूप भाव-शल्य करते हैं (इससे) बोधि की प्राप्ति दुर्लभ हो जाती है और (व्यक्ति) अनंतसंसारी हो जाता है।

(२९) इसीलिए गर्व-रहित (साधक) पुनर्जन्म रूपी लता के मूल मिथ्या-दर्शन शल्य, माया शल्य एवं निदान (शल्य) को (अन्तरंग से) निकाल देते हैं।

(आलोचना फल)

(३०) गुरु के सानिध्य में (अपने) कृत पाप की आलोचना और निन्दा करके मनुष्य शीघ्र ही उसी प्रकार निर्भार हो जाता है, जिस प्रकार बोझ को उतार देने पर बोझा ढोने वाला।

(पायच्छित्ताणुसरणपरूवणा)

तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति।
तं तह अणुसरियव्वं अणवत्थपसंगभीएणं ॥ ३१ ॥

दसदोसविप्पमुक्कं तम्हा सव्वं अगूहमाणेणं।
जं किंपि[1] कयमकज्जं तं जहवत्तं कहेयव्वं ॥ ३२ ॥

(पाणवहाइपच्चक्खाणं असणाइवोसिरणा य)

सव्वं पाणारंभं पच्चक्खामी य अलियवयणं च।
[2]सव्वमदिन्नादाणं [3]अव्वंभ परिग्गहं चेव ॥ ३३ ॥

सव्वं पि असण पाणं चउव्विहं जो य बाहिरो उवही।
अब्भितरं च उवहिं सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥ ३४ ॥

(पालणासुद्ध-भावसुद्धपच्चक्खाणसरूवं)

कंतारे दुब्भिक्खे आयंके वा महया समुप्पन्ने।
जं पालियं, न भग्गं तं जाणसु पालणासुद्धं ॥ ३५ ॥

रागेण व दोसेण व परिणामेण व न दूसियं जं तु।
तं खलु पच्चक्खाणं भावविसुद्धं मुणेयव्वं ॥ ३६ ॥

(निव्वेओवएसो)

पीयं थणयच्छीरं सागरसलिलाउ बहुतरं होज्जा।
संसारम्मि अणंते माईणं अन्नमन्नाणं ॥ ३७ ॥

बहुसो वि [4]एव रुण्णं पुणो पुणो तासु तासु जाईसु।
नयणोदयं पि जाणसु बहुययरं सागरजलाओ ॥ ३८ ॥

---

१. किंचि क° सं०। २. सव्वं चऽदत्तदाणं सं। ३. सऽब्बंभप० पु०।
४. वि मए रु° सा०।

(प्रायश्चित अनुसरण प्ररूपणा)

(३१) (शिष्य के अपराध को जानकर) सन्मार्ग-विज्ञ गुरु (उसे) जिस प्रायश्चित का निर्देश करते हैं, अनवस्था-भीरु उस (शिष्य) को उसी प्रकार उसका अनुसरण करना चाहिए।

(३२) दस दोषों से विमुक्त (वह शिष्य) समस्त (दोषों को) बिना छिपाए हुए ही जो कुछ भी कार्य-अकार्य किया है, उसको उसी प्रकार (गुरु के समक्ष) कह दे।

(प्राण-हिंसा आदि का प्रत्याख्यान और असण आदि का परित्याग)

(३३) सभी प्रकार की प्राण-हिंसा, असत्य वचन, अदत्त ग्रहण (स्तेन-कर्म), अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह को (मैं) त्यागता हूँ।

(३४) असण, पान आदि चार प्रकार के आहार, समस्त बाह्य उपधि (परिग्रह) एवं जो अभ्यन्तर उपधि (कषाय-भाव) हैं, (साधक उन) सभी को तीनों प्रकार से त्यागे।

(निर्दोष पालन, भाव शुद्ध और प्रत्याख्यान स्वरूप)

(३५) भयानक अटवी, दुर्भिक्ष अथवा अत्यधिक आतंकपूर्ण स्थिति के उत्पन्न होने पर भी जो आचार-नियम खण्डित नहीं किये जाते, उनका पालन ही निर्दोष जानों।

(३६) राग, द्वेष तथा भाव से जो (प्रत्याख्यान) दूषित नहीं होता, उसी प्रत्याख्यान को भाव-विशुद्ध जानना चाहिए।

(वैराग्य उपदेश)

(३७) (यह जीव) अनन्त संसार में (परिभ्रमण करते हुए) अलग-अलग माताओं के स्तनों का इतना अधिक दूध पी चुका है कि (उसकी मात्रा) समुद्र के जल से भी बहुत अधिक है।

(३८) (यह जीव संसार में परिभ्रमण करते हुए) बार-बार उन-उन योनियों में इतना अधिक रोया है कि (उसके) नयनोदक (अश्रु-रूपी जल) (की मात्रा) समुद्र के जल से भी बहुत अधिक जानों।

नत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तो वि ।
संसारे संसरंतो जत्थ न जाओ मओ वा वि ॥ ३९ ॥

चुलसीई किल लोए[1] जोणीणं पमुहसयसहस्साइं ।
एक्केक्कम्मि य एत्तो अणंतखुत्तो समुप्पन्नो ॥ ४० ॥

(पंडियमरणपरूवणा)

उड्ढमहे तिरियम्मि य [2]मयाइं बहुयाइं बालमरणाइं ।
तो ताइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४१ ॥

माया मि त्ति पिया मे भाया भगिणी य पुत्त धीया[3] य ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४२ ॥

माया-पिइ-बंधूहिं संसारत्थेहिं पूरिओ लोगो ।
बहुजोणिवासिएणं[4] न य ते ताणं च सरणं च ॥ ४३ ॥

एक्को करेइ कम्मं एक्को अणुहवइ दुक्कयविवागं ।
एक्को संसरइ जिओ जर-मरण-चउग्गईगुविलं ॥ ४४ ॥

[5]उव्वेयणयं जम्मण-मरणं नरएसु वेयणाओ वा ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४५ ॥

[5]उव्वेयणयं जम्मण-मरणं तिरिएसु वेयणाओ वा ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४६ ॥

[5]उव्वेयणयं जम्मण-मरणं मणुएसु वेयणाओ वा ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४७ ॥

[5]उव्वेयणयं जम्मण-मरणं चवणं च देवलोगाओ ।
एयाइं संभरंतो पंडियमरणं मरीहामि ॥ ४८ ॥

एक्कं पंडियमरणं छिंदइ जाईसयाइं बहुयाइं ।
तं मरणं मरियव्वं जेण मओ सुम्मओ होइ ॥ ४९ ॥

कइया णु तं सुमरणं पंडियमरणं जिणेहिं पन्नत्तं ।
सुद्धो उद्धियसल्लो पाओवगओ मरीहामि ? ॥ ५० ॥

---

१. °ए जोणीपमुहाइं सय° सा० । २. मियाइं पु० । ३. धूया पु० सा० ।
४. °एहिं न पु० सा० । ५. °व्वेवण० सं० ।

(३९) लोक में वालाग्रकोटि (संख्या विशेष) मात्र भी वह स्थान (अवशिष्ट) नहीं रहा है, जहाँ संसार में परिभ्रमण करते हुए (इस जीव ने) जन्म-मरण न किया हो।

(४०) लोक में योनियों के चौरासी लाख मुख्य भेद कहे गए हैं और (यह जीव) इन प्रत्येक योनियों में अनन्तबार उत्पन्न हुआ है।

(पंडितमरण प्ररुपणा)

(४१) ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् लोक में मेरे द्वारा अनेक बार बालमरण (अज्ञान-मरण) मरा गया है। इसलिए (अब मैं) उन बाल-मरणों को स्मरण करता हुआ पंडितमरण (समाधिमरण) मरूँगा।

(४२-४३) माता-पिता, भाई-बहिन और पुत्र-पुत्री रूप इन (सांसारिक संबंधों की अशरणता) को स्मरण करता हुआ मैं पंडितमरण मरूँगा। क्योंकि माता, पिता, बन्धु और संसार में विविध योनियों में रहे हुए समस्त प्राणी न तो (किसी के) रक्षणकर्ता है और न त्राणदाता ही है।

(४४) जीव अकेला कर्म करता है, अकेला अपने दुष्कर्मों के विपाक को भोगता है और अकेला ही जरा-मरण को प्राप्त कर कुटिल चतुर्गति में परिभ्रमण करता है।

(४५) जन्म, मरण, उद्विग्नता तथा नारकीय जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ (अब मैं) पंडितमरण मरूँगा।

(४६) जन्म, मरण, उद्विग्नता तथा तिर्यंच जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ (अब मैं) पंडितमरण मरूँगा।

(४७) जन्म, मरण, उद्विग्नता तथा मानव जीवन में जो वेदनाएँ हैं— इनको स्मरण करता हुआ (अब मैं) पंडितमरण मरूँगा।

(४८) जन्म, मरण, उद्विग्नता तथा देवलोक से च्युति—इनको स्मरण करता हुआ (अब मैं) पंडितमरण मरूँगा।

(४९) एक पण्डितमरण सैकड़ों भव-परम्परा का अन्त कर देता है इसलिए वह मरण (अर्थात् पंडितमरण) ही मरना चाहिए, जिससे मरण सुमरण हो जाता है।

(५०) जिनेन्द्रों के द्वारा उसी सुमरण को पंडितमरण कहा गया है। माया, निदान और मिथ्या शल्य को (शरीर से) बाहर किया हुआ (मैं क्या) शुद्ध प्रायोपगमन मरण मरूँगा ?

(निव्वेओवएसो)

भवसंसारे सव्वे चउव्विहा पोग्गला मए बद्धा ।
परिणामपसंगेणं अट्ठविहे कम्मसंघाए ॥ ५१ ॥

संसारचक्कवाले सव्वे ते पोग्गला मए बहुसो ।
आहारिया य परिणामिया य न य हं गओ तित्ति ॥ ५२ ॥

आहारनिमित्तागं[1] अहयं सव्वेसु नरयलोएसु ।
उववण्णो मि[2] सुबहुसो सव्वासु य मिच्छजाईसु ॥ ५३ ॥

[3]आहारनिमित्तागं [4]मच्छा गच्छंति दारुणे नरए ।
सच्चित्तो आहारो न खमो मणसा वि पत्थेउं ॥ ५४ ॥

तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो [5]सक्को तिप्पेउं काम-भोगेहिं ॥ ५५ ॥

तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो [6]सक्को तिप्पेउं अत्थसारेणं ॥ ५६ ॥

तण-कट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा [7]नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो [8]सक्को तिप्पेउं भोयणविहीए ॥ ५७ ॥

वलयामुहसामाणो दुप्पारो व णरओ [9]अपरिमेज्जो ।
न इमो जीवो [10]सक्को तिप्पेउं गंध-मल्लेहिं ॥ ५८ ॥

[11]अवियण्होऽयं जीवो अईयकालम्मि आगमिस्साए ।
सद्दाण य रूवाण य गंधाण रसाण फासाणं ॥ ५९ ॥

---

१. निमित्तेणं अ° सा० । २. मि य ब° पु० सा० । ३. °रनिमित्तेणं म° सा० । ४. यिच्छा पु० । ५–६. सक्का पु० । ७. °हस्सेसु सं० । ८. सक्का पु० । ९. °परिमिज्जो सा० । १०. सक्का तप्पेउं सा० । ११. अविवड्ढोऽयं सा० । अवितत्तोऽयं सापा० ।

(निर्वेद उपदेश)

(५१) भव संसार में परिभ्रमण करते हुए (स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु रूप) चारों प्रकार का समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे द्वारा (कर्म रूप में परिणत होकर) बद्ध हुआ है तथा मन के परिणामों (मनोभावों) द्वारा (मैंने) आठ प्रकार के कर्म संचित किये हैं।

(५२) संसार के चक्रवाल में परिभ्रमण करते हुए वे समस्त पुद्गल द्रव्य मेरे द्वारा आहार रूप में परिणत हुए हैं, तो भी मुझे तृप्ति प्राप्त नहीं हुई है।

(५३) आहार की लोलुपता के कारण (मैं) अधोलोक में, सभी नरकों में तथा (मनुष्य लोक में) अनेक बार म्लेच्छ जातियों में उत्पन्न हुआ हूँ।

(५४) आहार की लोलुपता के कारण मछलियाँ दुःख-पूर्ण नरक लोक में जाती हैं। इसीलिए (मुनि के लिए) सचित्त आहार की मन से भी इच्छा करना क्षम्य नहीं है।

(५५) (जिस प्रकार) तृण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लवण समुद्र को (तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार) काम-भोगों से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है।

(५६) (जिस प्रकार) तृण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लवण समुद्र को (तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार) धन से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है।

(५७) (जिसप्रकार) तृण और काष्ठ की आहुति से अग्नि को तथा हजारों नदियों के जल से लवण समुद्र को (तृप्त नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार) विविध प्रकार के भोजन से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है।

(५८) (जिसप्रकार) बड़वानल के समान विशाल नरक को पार करना कठिन है (उसीप्रकार) गन्ध-माल्य से इस जीव को तृप्त करना शक्य नहीं है।

(५९) यह जीव शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श से न तो अतीतकाल में (कभी) तृप्त हुआ है और न ही भविष्यकाल में कभी तृप्त होगा।

कप्पतरुसंभवेसु[1] देवुत्तरकुरुवसंपसूएसु ।
उववाए ण य तित्तो, न य नर-विज्जाहर-सुरेसु ॥ ६० ॥

खइएण व पीएण व न य एसो ताइओ हवइ अप्पा ।
जइ दुग्गइं न वच्चइ तो[2] नूणं ताइओ होई ॥ ६१ ॥

देविंद-चक्कवट्टित्तणाइं रज्जाइं उत्तमा भोगा ।
पत्ता अणंतखुत्तो न य हं तित्तिं गओ तेहिं ॥ ६२ ॥

[3]खीरदगुच्छुरसेसुं साऊसु महोदहीसु बहुसो वि ।
उववण्णो ण य तण्हा छिन्ना मे सीयलजलेणं ॥ ६३ ॥

तिविहेण य सुहमउलं तम्हा कामरइविसयसोक्खाणं ।
बहुसो सुहमणुभूयं न य सुहतण्हा परिच्छिण्णा ॥ ६४ ॥

जा काइ पत्थणाओ कया मए राग-दोसवसएणं ।
पडिबंधेण बहुविहं तं निंदे तं च गरिहामि ॥ ६५ ॥

हंतूण मोहजालं छेत्तूण य अट्ठकम्मसंकलियं ।
जम्मण-मरणरहट्टं भेत्तूण [4]भवाओ मुच्चिहिसि ॥ ६६ ॥

पंच य महव्वयाइं तिविहं तिविहेण आरुहेऊणं ।
मण-वयण-कायगुत्तो सज्जो मरणं पडिच्छिज्जा ॥ ६७ ॥

(पंचमहव्वयरक्खापरूवणा)

कोहं माणं मायं लोहं पिज्जं तहेय दोसं च ।
चइऊण अप्पमत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ६८ ॥

कलहं अब्भक्खाणं पेसुण्णं पि य परस्स परिवायं ।
परिवज्जंतो गुत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ६९ ॥

पंचेंदियसंवरणं पंचेव निरुंभिऊण कामगुणे ।
[5]अच्चासातणभीओ रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७० ॥

---

१. °भवेसुं देवुत्तरकुरुवंसपसू° पु० सा० । २. तो मरणे ता° पु० सा० ।
३. °दगोच्छु° सा० । ४. °वा विमु° सा० । ५. °सायण° सं० विना ।

(६०) देवकुरु और उत्तरकुरु[1]—जहाँ सदैव कल्पवृक्ष होते हैं, (वहाँ) उत्पन्न होकर तथा मनुष्य, विद्याधर और देव रूप में उत्पन्न होकर भी (यह जीव) तृप्त नहीं हुआ है।

(६१) खाने-पीने से यह आत्मा त्राण प्राप्त नहीं कर पाती है। यदि (आत्मा) दुर्गति को नहीं चाहती है तो निश्चय ही त्राण प्राप्त करती है।

(६२) (मैंने) देवेन्द्रों, चक्रवर्तियों (सम्राटों) और राज्यों के उत्तम भोगों को अनन्तबार प्राप्त किया है, तो भी उनसे मुझे तृप्ति नहीं हुई है।

(६३) (मैं) क्षीरोदक समुद्र, इक्षुरस समुद्र तथा स्वादिष्ट महोदधि समुद्र में अनेक बार उत्पन्न हुआ हूँ, तो भी उनके शीतल जल से भी मेरी तृष्णा शांत नहीं हुई है।

(६४) (इस जीव ने) काम-रति सम्बन्धी विषय-सुखों के अतुल आनन्द का तीनों प्रकार से अनेकबार अनुभव किया है फिर भी (इसके) विषय-सुख की तृष्णा शांत नहीं हुई है।

(६५) राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो कोई (व्यक्ति) आसक्ति पूर्वक मुझसे विविध याचना करता है तो मैं उसकी निंदा और गर्हा करता हूँ।

(६६) मोह जाल को समाप्त करके, संकलित किये हुए आठ कर्मों को छेद करके और जन्म-मरण के चक्र (रँहट) को तोड़ करके तुम संसार (भव-परम्परा) से मुक्त हो सकोगे।

(६७) (साधक) त्रिविध-त्रिविध रूप से पंच महाव्रतों का पालन करके तथा मन, वचन और शरीर से संयत (अर्थात् त्रिगुप्ति से युक्त) होकर पंडितमरण की इच्छा करे।

(पंच महाव्रत रक्षा प्ररूपणा)

(६८) क्रोध, मान, माया, लोभ और उसी प्रकार राग-द्वेष को त्याग करके अप्रमत्त हुआ (मैं) पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(६९) कलह, लाञ्छन, चुगली और पर-निंदा को त्यागते हुए (मैं) संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७०) पांच प्रकार के काम गुणों का निरोध करके और पंचेन्द्रियों का

---

१. देवकुरु और उत्तरकुरु उत्तम भोग भूमि है। वहाँ सदैव ही पहला और दूसरा आरा रहता है तथा सदैव सभी इच्छाएं पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष वहाँ होते है।

किण्हा नीला काऊ लेसा झाणाइं अट्ट-रोद्दाइं ।
[1]परिवज्जिंतो गुत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७१ ॥

तेऊ पम्हा सुक्का लेसा झाणाइं धम्म-सुक्काइं ।
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७२ ॥

मणसा मणसच्चविऊ वायासच्चेण करणसच्चेण ।
तिविहेण वि सच्चविऊ रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७३ ॥

सत्तभयविप्पमुक्को चत्तारि निरुंभिऊण य कसाए ।
अट्ठमयट्ठाणजढो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७४ ॥

[2]गुत्तीओ समिईं-भावणाओ नाणं च दंसणं चेव ।
उवसंपन्नो जुत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७५ ॥

एवं तिदंडविरओ तिकरणसुद्धो तिसल्लनिस्सल्लो ।
तिविहेण अप्पमत्तो रक्खामि महव्वए पंच ॥ ७६ ॥

(गुत्ति-समिइपाहण्णपरूवणा)

संगं परिजाणामि सल्लं तिविहेण उद्धरेऊणं ।
गुत्तीओ समिईओ मज्झं ताणं च सरणं च ॥ ७७ ॥

(तवमाहप्पं)

जह खुहियचक्कवाले पोयं रयणभरियं समुद्दम्मि ।
निज्जामगा धरेंती कयकरणा बुद्धिसंपण्णा ॥ ७८ ॥

तवपोयं गुणभरियं परीसहुम्मीहि खुहिउमारद्धं[3] ।
तह आराहिंति विऊ उवएसऽवलंबगा धीरा ॥ ७९ ॥

---

१. °वज्जंतो सं० विना । २. सम्मत्तं गुत्तीओ समिईओ भावणाओ नाणं च उवसं° हं० । ३. °माइट्ठं (द्धं) सं० ।

संवरण करके मान-अपमान से भयभीत हुआ (मैं) पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७१) कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या तथा आर्त और रौद्र ध्यान को त्यागते हुए (मैं) संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७२) तेजो लेश्या, पद्म लेश्या एवं शुक्ल लेश्या तथा धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान को प्राप्त (मैं) संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७३) मन से सत्य जानने वाला, वचन से सत्य बोलने वाला और शरीर से सत्य आचरण करने वाला—इस प्रकार त्रिविध रूप से सत्यविद् (मैं) पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७४) चारों कषायों का निरोध करके, सात प्रकार के भयों से मुक्त तथा आठों मद स्थानों का त्यागी (मैं) पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७५) गुप्ति (त्रिगुप्ति), समिति (पंच समिति), भावना (द्वादश भावना) एवं ज्ञान तथा दर्शन से उपसम्पन्न (मैं) संयती पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(७६) त्रिदंड से रहित, त्रिकरण से शुद्ध, त्रिशल्य से निःशल्य—इस प्रकार त्रिविध रूप से अप्रमत्त (मैं) पाँच महाव्रतों की रक्षा करता हूँ।

(गुप्ति समिति प्रधान प्ररूपणा)

(७७) त्रिविध रूप से शल्य का निराकरण करके (मैं) आसक्ति के परिणाम को जानता हूँ। गुप्तियाँ और समितियाँ ही मेरे लिए शरण और त्राण है।

(तप माहात्म्य)

(७८-७९) जिसप्रकार कार्य कुशल और बुद्धि सम्पन्न निर्यामक (जहाज चालक) चक्रवाल से क्षोभित समुद्र में रत्न से भरे हुए जहाज की सुरक्षा करता है उसीप्रकार उपदेश का अवलम्बन लेने वाले धैर्यवान् विद्वत्जन परीषह रूपी तरङ्गों से क्षोभित तृष्णा रूपी समुद्र में गुणों से युक्त तप रूपी पोत की सुरक्षा करते हैं (अर्थात् आराधना करते हैं)।

(अप्पट्ठसाहणपरूवणा)

जइ ताव ते सुपुरिसा[1] आयारोवियभरा निरवयक्खा ।
पब्भार-कंदरगया साहिंती अप्पणो अट्ठं ॥ ८० ॥

जइ ताव ते सुपुरिसा गिरिकंदर-कडग-विसम-दुग्गेसु ।
धिइधणियबद्धकच्छा साहिंती अप्पणो अट्ठं ॥ ८१ ॥

किं पुण अणगारसहायगेण अण्णोण्णसंगहबलेणं ।
परलोएणं सक्का साहेउं अप्पणो अट्ठं ? ॥ ८२ ॥

जिणवयणमप्पमेयं महुरं कण्णाहुइं सुणंतेणं ।
सक्का हु साहुमज्झे साहेउं अप्पणो अट्ठं ॥ ८३ ॥

धीरपुरिसपण्णत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
धन्ना सिलायलगया साहिंती अप्पणो अट्ठं ॥ ८४ ॥

(अकारियजोग-कारियजोगाणं हाणि-गुणपरूवणा)

बाहिंति इंदियाइं पुव्वमकारियपइण्णचारीणं ।
अकयपरिकम्म कीवा मरणे [2]सुयसंपयायम्मि ॥ ८५ ॥

पुव्वमकारियजोगो समाहिकामो य[3] मरणकालम्मि ।
न भवइ परीसहसहो विसयसुहसमुइओ अप्पा ॥ ८६ ॥

पुव्विं कारियजोगो सामाहिकामो य[4] मरणकालम्मि ।
स भवइ परीसहसहो विसयसुहनिवारिओ[5] अप्पा ॥ ८७ ॥

पुव्विं कारियजोगो अनियाणो ईहिऊण मइपुव्वं ।
ताहे मलियकसाओ सज्जो मरणं पडिच्छेज्जा ॥ ८८ ॥

पावाणं पावाणं कम्माणं अप्पणो सकम्माणं ।
सक्का पलाइउं जे तवेण सम्मं पउत्तेणं ॥ ८९ ॥

---

१. °सा भाया° सं० । २. सुहसंगतायम्मि सा० । सुहसंगचायम्मि पु० ।
३-४. उ सं० । ५. °वारओ सं० ।

(आत्मार्थ साधन प्ररूपणा)

(८०-८३) यदि सुपुरुष अनाकांक्ष और आत्मज्ञ हैं, तो वे पर्वत की गुफा में जाकर अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं (अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं) और यदि वे सुपुरुष बुद्धिवान् एवं साधना सन्नद्ध हैं, तो पर्वत की गुफा, पर्वतीय भू-भाग और इसी प्रकार विषम एवं दुर्गम स्थानों पर (स्थित होकर) अपनी आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध कर लेते हैं। तो फिर साधुओं की सहायता से और एक-दूसरे की प्रेरणा से (उनके लिए) परलोक में अपने प्रयोजन की (अर्थात् आत्मार्थ) की सिद्धि क्यों नहीं संभव होगी ? साधुओं के मध्य में रहते हुए मधुर जिनवचनों को कानों से श्रवण करके (सुपुरुष अपनी) आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए अवश्य ही समर्थ है।

(८४) धैर्यवान् पुरुषों द्वारा प्रतिपादित और सत्पुरुषों द्वारा आराधित दुस्साध्य आत्म अर्थ को (जो पुरुष) शिलातल पर अवस्थित होकर सिद्ध कर लेते हैं, वे धन्य हैं।

(अकृतयोग और कृतयोग के गुण-दोष की प्ररूपणा)

(८५) बहिर्मुखी इन्द्रियों वाला, छिन्न चारित्र वाला, असंस्कारित तथा पूर्व में साधना नहीं किया हुआ (व्यक्ति) श्रुत सम्पन्न होकर भी मरणकाल में अधीर हो जाता है।

(८६) पूर्व में जिसने योग-साधना नहीं की है और (जो) विषय-सुखों में आसक्त है, ऐसी आत्मा समाधि की इच्छुक होकर भी मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में समर्थ नहीं होती है।

(८७) पूर्व में जिसने योग-साधना की है और (जो) विषयसुखों में आसक्त नहीं है, ऐसी आत्मा ही समाधि की इच्छुक होकर मृत्यु के अवसर पर परीषह सहन करने में समर्थ होती है।

(८८) पूर्व में जिसने योग-साधना की है और जो विवेकयुक्त होकर भावी फल की आकांक्षा से रहित हो गया है ऐसा मर्दित कषाय वाला (व्यक्ति) मृत्यु का तत्परतापूर्वक आलिंगन कर लेता है (अर्थात् वह मृत्यु को देखकर विचलित नहीं होता है)।

(८९) जो तप के द्वारा समत्वभाव में प्रवृत्त होता है (उसके लिए) पापियों के पापकर्मों तथा अपने सत्कर्मों का अतिक्रमण कर पाना शक्य होता है।

(पंडियमरणपरूवणा)

एक्कं पंडियमरणं पडिवज्जिय सुपुरिसो असंभंतो ।
खिप्पं सो मरणाणं काही अंतं अणंताणं ॥ ९० ॥

किं तं पंडियमरणं ? काणि व आलंबणाणि भणियाणि ? ।
एयाइं नाऊणं किं आयरिया पसंसंति ? ॥ ९१ ॥

अणसण पाओवगमं आलंबण झाण भावणाओ य ।
एयाइं नाऊणं पंडियमरणं पसंसंति ॥ ९२ ॥

(अणाहारगसरूवं)

इंदियसुहसाउलओ घोरपरीसहपराइयपरज्झो ।
अकयपरिकम्म कीवो मुज्झइ आराहणाकाले ॥ ९३ ॥

लज्जाइ गारवेण य बहुस्सुयमएण वा वि दुच्चरियं ।
जे न कहिंति गुरूणं न हु ते आराहगा होंति ॥ ९४ ॥

(आराहणामाहप्पं)

सुज्झइ दुक्करकारी, जाणइ मग्गं ति पावए किंत्ति ।
विणिगूहिंतो णिंदइ, तम्हा आराहणा सेया ॥ ९५ ॥

(विसुद्धमणमाहप्पं)

न वि कारणं तणमओ संथारो, न वि य फासुया भूमी ।
अप्पा खलु संथारो होइ विसुद्धो मणो जस्स ॥ ९६ ॥

(पमायदोसपरूवणा)

जिणवयणअणुगया मे होउ मई झाणजोगमल्लीणा ।
जह तम्मि देसकाले अमूढसन्नो चयइ देहं ॥ ९७ ॥

(पंडितमरण प्ररूपणा)

(९०) असंभ्रान्त (यथार्थ वस्तु स्वरूप के ज्ञाता) सत्पुरुष एकमात्र पंडितमरण का ही प्रतिपादन करते हैं क्योंकि वह शीघ्र ही अनन्त-मरणों का अन्त कर देता है (अर्थात् मुक्ति प्रदान कर देता है) ।

(९१) वह पंडितमरण क्या है और उसके आलम्बन कौन-से कहे गये हैं ? इनको जानकर आचार्य (उसकी) प्रशंसा क्यों करते हैं ?

(९२) अनशन और प्रायोपगमन (पंडितमरण है) तथा ध्यान और भावनाएँ (अनुप्रेक्षाएं) ही उसके आलम्बन हैं—इनको जानकर ही (आचार्य)पंडितमरण की प्रशंसा करते हैं ।

(अनआराधक स्वरूप)

(९३) इन्द्रियसुखों में लीन, भयंकर परीषहों से पराजित, पर (पदार्थों) में आसक्त, असंस्कारित एवं अधीर व्यक्ति आराधना काल में (अर्थात् समाधिमरण के अवसर पर) विचलित हो जाता है ।

(९४) लज्जा, अभिमान एवं बहुश्रुतता के अहंकार के कारण जो (शिष्य अपने) दुश्चरित्र को गुरु के समक्ष प्रकट नहीं करते हैं, वे आराधक नहीं होते हैं ।

(आराधना माहात्म्य)

(९५) कठिन तप करनेवाला विशुद्ध होता है और जो साधना मार्ग को जानता है वह कीर्ति प्राप्त करता है । तथा जो अपने अपराधों की आलोचना कर लेता है, उसकी आराधना श्रेयस्कर होती है ।

(विशुद्ध मन प्राधान्य)

(९६) न तो तृणमय संस्तारक (तृणों की शय्या) ही समाधिमरण का हेतु है और न प्रासुक भूमि ही । जिसका मन विशुद्ध होता है वही आत्मा संस्तारक (संसार समुद्र से सम्यक् रूप से तारने वाली) होती है ।

(प्रमाददोष प्ररूपणा)

(९७) मैं जिनवचन का अनुसरण करने वाला तथा विवेक, ध्यान और योग से युक्त होऊँ ताकि (मृत्यु का अवसर उपस्थित होने पर) उस देश और काल में अमूढ संज्ञा (अप्रमत्तचेता) होकर देह का त्याग कर सकूं ।

जाहे होइ पमत्तो जिणवरवयणरहिओ अणाउत्तो ।
ताहे इंदियचोरा करिंति तव-संजमविलोमं ॥ ९८ ॥

(संवरमाहप्पं)

जिणवयणमणुगयमई जं वेलं होइ संवरपविट्ठो ।
अग्गी व वाउसहिओ समूलडालं डहइ कम्मं ॥ ९९ ॥

जह डहइ वाउसहिओ अग्गी रुक्खे वि हरियवणसंडे ।
तह पुरिसकारसहिओ नाणी कम्मं खयं णेई ॥१००॥

(नाणमाहप्पपरूवणा)

जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं ।
तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेणं ॥१०१॥

न हु मरणम्मि उवग्गे सक्का बारसविहो सुयक्खंधो ।
सव्वो अणुचिंतेउं [1]धंतं पि समत्थचित्तेणं ॥१०२॥

एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
तं तस्स होइ नाणं जेण विरागत्तणमुवेइ ॥१०३॥

एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
सो तेण मोहजालं छिंदइ अज्झप्पयोगेणं ॥१०४॥

एक्कम्मि वि जम्मि पए संवेगं कुणइ वीयरायमए ।
वच्चइ नरो अभिक्खं तं मरणं तेण मरियव्वं ॥१०५॥

जेण विरागो जायइ तं तं सव्वायरेण कायव्वं ।
मुच्चइ हु ससंवेगी, अणंतओ होअसंवेगी ॥१०६॥

---

१. धणियं पि सा० ॥

(९८) जिस समय व्यक्ति प्रमत्त, जिनवचन रहित और असावधान होता है उस समय इन्द्रियरूपी चोर तप और संयम का विलोपन करते हैं (अर्थात् हरण कर लेते हैं)।

(संवर माहात्म्य)

(९९) जिस प्रकार वायु सहित अग्नि (वृक्ष को) जड़-मूल से अर्थात् पूर्णतया जला देती है उसी प्रकार जिनवचन का अनुसरण करने वाली बुद्धि जब संवर भावना में प्रविष्ठ होती है तब कर्म को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर देती है।

(१००) जिस प्रकार वायु सहित अग्नि वृक्षों एवं हरे-भरे वन प्रदेश को भी जला देती है उसीप्रकार पुरुषार्थ युक्त ज्ञानी व्यक्ति कर्म को जानकर उनका क्षय कर देता है।

(ज्ञान-प्राधान्य प्ररूपणा)

(१०१) अज्ञानी व्यक्ति जिन विपुल कर्मों को करोड़ों वर्षों में क्षय करता है, उन कर्मों को त्रिगुप्ति से युक्त ज्ञानी व्यक्ति एक श्वास-मात्र में ही क्षय कर देता है।

(१०२) निश्चय ही मृत्यु के समीप होने पर बारह प्रकार के श्रुतस्कन्ध के ज्ञाता के द्वारा भी समर्थचित्त से उन सबका अनुचिंतन करना संभव नहीं है।

(१०३) जिस एक पद के द्वारा (व्यक्ति) वीतराग के मत (अर्थात् धर्म मार्ग) में संवेग (वैराग्य-भाव) को प्राप्त करता है, वैराग्य को प्राप्त कराने वाला वह पद ही उस व्यक्ति का ज्ञान होता है।

(१०४) जिस एक पद के द्वारा (व्यक्ति) वीतराग के मत (अर्थात् धर्म मार्ग) में संवेग को प्राप्त करता है, वह पद आध्यात्मयोग के द्वारा उसके मोह जाल को छिन्न कर देता है।

(१०५) जिस एक पद के द्वारा (व्यक्ति) वीतराग के मत (अर्थात् धर्म मार्ग) में संवेग को प्राप्त करता है,उस पद का बार-बार उच्चारण करता हुआ (वह) मनुष्य मरकर भी नहीं मरता है (अर्थात् अमर हो जाता है)।

(१०६) जिनसे वैराग्य उत्पन्न होता है उन-उनको सर्वथा सम्मानपूर्वक आचारित करना चाहिए। क्योंकि (जो) संवेगी होता है (वह)

(जिणधम्मसद्दहणा)

धम्मं जिणपन्नत्तं सम्ममिणं सद्दहामि तिविहेणं ।
तस-थावरभूयहियं पंथं नेव्वाणगमणस्स[1] ॥१०७॥

(विविहवोसिरणापरूवणा)

समणो मि त्ति य पढमं, बीयं सव्वत्थ संजओ मि त्ति ।
सव्वं च वोसिरामि जिणेहिं जं जं च पडिकुट्ठं ॥१०८॥

उवही सरीरगं चेव आहारं च चउव्विहं ।
मणसा वय काएणं वोसिरामि त्ति भावओ ॥१०९॥

मणसा अचिंतणिज्जं सव्वं भासायऽभासणिज्जं च ।
काएण अकरणिज्जं सव्वं तिविहेण वोसिरे ॥११०॥

(पच्चक्खाणेण समाहिलंभो)

अस्संजमवोगसणं उवहि विवेगकरणं उवसमो य ।
पडिरूयजोगविरओ खंती मुत्ती विवेगो य ॥१११॥

एयं पच्चक्खाणं आउरजणआवईसु भावेण ।
[2]अण्णयरं पडिवण्णो जंपंतो पावइ समाहिं ॥११२॥

(अरहंताइएगपयसरणगहणेण वि वोसिरणाए आराहगत्तं)

एयंसि निमित्तम्मी पच्चक्खाऊण जइ करे कालं ।
तो पच्चक्खाइयव्वं इमेण एक्केण वि पएणं ॥११३॥

---

१. निव्वाणमग्गस्स सा० ।
२. अंतयरं सं० ।

मुक्ति को प्राप्त करता है और (जो) असंवेगी (आसक्त) होता है (वह) अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है।

(जिनधर्म में श्रद्धा)

(१०७) वीतराग द्वारा प्ररूपित इस सम्यक् धर्म में (मैं) तीनों प्रकार से (अर्थात् मन, वचन व काया से) श्रद्धा करता हूँ। (यह धर्म) त्रस एवं स्थावर जीव समूह के लिए हितकारी है तथा निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है।

(विविध त्याग प्ररूपणा)

(१०८) प्रथम तो मैं श्रमण हूँ और दूसरे मैं सर्वथा संयत भी हूँ इसलिए जिनदेवों के द्वारा जो-जो भी निषिद्ध हैं, उन सबका मैं त्याग करता हूँ।

(१०९) (मैं) उपधि (परिग्रह), शरीर एवं चारों प्रकार के आहार का मन, वचन और काया से भावपूर्वक त्याग करता हूँ।

(११०) मन से जो चिन्तन करने योग्य नहीं है, वचन से जो कहने योग्य नहीं है और शरीर से जो करने योग्य नहीं है—उन सभी निषिद्ध कर्मों का (साधक) तीनों प्रकार से (अर्थात् मन, वचन एवं काया से) त्याग करे।

(प्रत्याख्यान से समाधि प्राप्ति)

(१११) आपत्तिकाल में साधक असंयम का त्याग करे, उपधि (अर्थात् परिग्रह) का विवेक करे और उपशम भाव को धारण करे। असम्यक् मन, वचन एवं काया के व्यापार से विरत होए तथा क्षमा भाव और वैराग्य भाव का विवेक बनाए रखे (अर्थात् उनका बोध करे)।

(११२) आपत्तिकाल में आतुरजन भाव पूर्वक इस और इस प्रकार के अन्य प्रत्याख्यानों को ग्रहण करता हुआ समाधि को प्राप्त करता है।

(अरहंत आदि एक पद के शरण ग्रहण एवं प्रत्याख्यान करने से आराधकत्व)

(११३) ऐसे अवसर पर प्रत्याख्यान करके यदि (मुनि) कालधर्म को (अर्थात् मृत्यु को) प्राप्त होता है तो वह इस प्रत्याख्यान के एक ही पद से (समाधि को प्राप्त होता है)।

मम मंगलमरिहंता सिद्धा साहू सुयं च धम्मो य ।
तेसिं सरणोवगओ सावज्जं वोसिरामि त्ति ॥११४॥

अरहंता मंगलं मज्झ, अरहंता मज्झ देवया ।
अरहंते कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११५॥

सिद्धा य मंगलं मज्झ, सिद्धा य मज्झ देवया ।
सिद्धे य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११६॥

आयरिया मंगलं मज्झ, आयरिया मज्झ देवया ।
आयरिए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११७॥

उज्झाया मंगलं मज्झ, उज्झाया मज्झ देवया ।
उज्झाए कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११८॥

साहु य मंगलं मज्झ, साहू य मज्झ देवया ।
साहू य कित्तइत्ताणं वोसिरामि त्ति पावगं ॥११९॥

सिद्धे उवसंपण्णो अरहंते केवलि त्ति भावेणं ।
एत्तो एगयरेण वि पएण आराहओ होइ ॥१२०॥

(वेयणाहियासणोवएसो)

समुइण्णवेयणो पुण समणो हियएण किं पि चिंतिज्जा ।
आलंबणाइं काइं काऊण मुणी दुहं सहइ ? ॥१२१॥

वेयणासु उइन्नासु किं मे सत्तं निवेयए ।
किंचाऽऽलंबणं किच्चा तं दुक्खमहियासए ॥१२२॥

अणुत्तरेसु नरएसु वेयणाओ अणुत्तरा ।
पमाए वट्टमाणेणं मए पत्ता अणंतसो ॥१२३॥

मए कयं इमं कम्मं समासज्ज अबोहियं ।
पोराणगं इमं कम्मं मए पत्तं अणंतसो ॥१२४॥

ताहिं दुक्खविवागाहिं [1]उवचिण्णाहिं ताहिं ताहिं ।
न य जीवो अजीवो उ कयपुव्वो उ चिंतए ॥१२५॥

---

१. ओचिण्णा° सं० ।

(११४) अरहंत, सिद्ध, साधु, श्रुतज्ञान और धर्म मेरे लिए कल्याणकारी है। इनकी शरण में जाकर (मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(११५) अरहंत मेरे लिए मंगल है और अरहंत मेरे लिए पूजनीय है। अरहन्तों को स्मरण करता हुआ (मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(११६) सिद्ध मेरे लिए मंगल है और सिद्ध मेरे लिए पूजनीय है। सिद्धों को स्मरण करता हुआ (मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(११७) आचार्य मेरे लिए मंगल है और आचार्य मेरे लिए पूजनीय है। आचार्यों को स्मरण करता हुआ (मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(११८) उपाध्याय मेरे लिए मंगल है और उपाध्याय मेरे लिए पूजनीय है। उपाध्यायों को स्मरण करता हुआ(मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(११९) साधु मेरे लिए मंगल है और साधु मेरे लिए पूजनीय है। साधुओं को स्मरण करता हुआ (मैं) पापकर्म को त्यागता हूँ।

(१२०) इस प्रकार भावपूर्वक सिद्ध, अरहंत और केवलि—इनमें से किसी एक भी पद की शरण ग्रहणकर (व्यक्ति) इस (लोक) में आराधक होता है।

(वेदना सहन का उपदेश)

(१२१) वेदना के उत्पन्न होने पर श्रमण हृदय के द्वारा क्या विचार करे ? मुनि आलम्बन करता है और आलम्बन करके ही दुःख को सहन करता है।

(१२२) वेदना के उत्पन्न होने पर सत्त्व को (प्राणी को) क्या सम्बोधित करना चाहिए। आलम्बन के कारण ही वह दुःख तुझे प्राप्त हुआ है। अतः समभावपूर्वक उसे सहन कर।

(१२३) अन्तिम नरक में विद्यमान (जीवों की) वेदनाएँ अत्यधिक (कष्टकर होती हैं)। प्रमाद के वशीभूत होकर मैंने (उस अवस्था को) अनन्तबार प्राप्त किया है।

(१२४) मेरे द्वारा अज्ञान से युक्त होने के कारण ये (क्रूर) कर्म किये गये हैं। पूर्वकाल में भी मेरे द्वारा अनेकबार ये कर्म किये गये।

(१२५) उन-उन (क्रूर) कर्मों को करने के कारण (मैं) उन दुःखविपाकों को प्राप्त हुआ हूँ। (ये) पूर्वकृत कर्म जीव के ही हैं, अजीव के नहीं। ऐसा विचार करना चाहिए।

(अब्भुज्जयमरणपरूवणा)

अब्भुज्जयं विहारं इत्थं जिणएसियं विउपसत्थं ।
नाउं महापुरिससेवियं च अब्भुज्जयं मरणं ॥१२६॥

जह पच्छिमम्मि काले पच्छिमतित्थयरदेसियमुयारं ।
पच्छा [1]निच्छयपत्थं उवेमि अब्भुज्जयं मरणं ॥१२७॥

(आराहणपडागाहरणपरूवणा)

बत्तीसमंडियाहिं कडजोगी जोगसंगहबलेणं ।
उज्जमिऊण य बारसविहेण [2]तवणेहपाणेणं ॥१२८॥

संसाररंगमज्झे धिइबलववसायबद्धकच्छाओ ।
हंतूण मोहमल्लं हराहि आराहणपडागं ॥१२९॥

पोराणगं च कम्मं खवेइ अन्नं नवं [3]च न चिणाइ ।
कम्मकलंकलवल्लिं[4] छिंदइ संथारमारूढो ॥१३०॥

आराहणोवउत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं ।
उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज नेव्वाणं ॥१३१॥

धीरपुरिसपन्नत्तं सप्पुरिसनिसेवियं परमघोरं ।
ओइण्णो हु सि रंगं हरसु पडायं अविग्घेणं ॥१३२॥

धीर ! पडागाहरणं करेह जह तम्मि देसकालम्मि ।
सुत्त-ऽत्थमणुगुणंतो धिइनिच्चलबद्धकच्छाओ ॥१३३॥

चत्तारि कसाए तिन्नि गारवे पंच इंदियग्गामे ।
हंता परीसहचमू हराहि आराहणपडागं ॥१३४॥

---

१. °पच्छं पु० सं० ।
२. तव-णियमपा° सं० ।
३. च नाऽऽआइ सं० ।
४. °वल्ली पु० ।

(अभ्युद्यतमरण प्ररूपणा)

(१२६) (जिनकल्पी मुनि का) यह एकाकी विहार जिनोपदिष्ट है और विद्वत्जनों के द्वारा प्रशंसनीय है। महापुरुषों के द्वारा आचरित और जिनकल्पियों द्वारा सेवित यह मरण (अभ्युद्यतमरण) जानने योग्य है।

(१२७) (साधक ऐसा कहे कि) चरम तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट जीवन के अन्तिम समय में करने योग्य कल्याणकारी समाधिमरण (अभ्युद्यतमरण) को जीवन की सन्ध्यावेला में (मैं) नियमपूर्वक अंगीकार करता हूँ।

(आराधनापताका प्राप्ति प्ररूपणा)

(१२८) बत्तीस प्रकार के योग संग्रह बल से मण्डित कृतयोगी बारह प्रकार के तपों के अमृत का पान करके उसका समापन करे।

(१२९) (साधक) बुद्धिबलरूपी लंगोट को कसकर संसाररूपी रंगमंच पर मोहरूपी मल्ल को पराजित कर आराधनारूपी पताका को फहराता है।

(१३०) संस्तारक (अर्थात् मृत्यु शैय्या) पर आरूढ़ (साधक) पुराने कर्मों का क्षय करता है और अन्य नये कर्म संचित नहीं करता है तथा कर्म कलंकरूपी लता का छेदन करता है।

(१३१) (जो) संयमी साधक आराधना (समाधिमरण) से युक्त होकर सम्यक् प्रकार से मृत्यु को प्राप्त करता है (वह) अधिक से अधिक तीन भव में जाकर (अर्थात् तीन भव करके) निर्वाण प्राप्त करता है।

(१३२) धीरपुरुषों द्वारा प्ररूपित और सत्पुरुषों द्वारा सेवित अति कठिन आराधना के द्वारा (साधक) संसार समुद्र को अवतीर्ण कर निर्विघ्नरूप से धर्मरूपी पताका को फहराता है।

(१३३) स्थिरबुद्धि (स्थितप्रज्ञ) रूपी लंगोट से युक्त धीर साधक सूत्र और अर्थ का अनुचिंतन करता हुआ उस देश और काल में (धर्मरूपी) पताका को फहराता है।

(१३४) चार कषाय, तीन गारव और पाँच इन्द्रियग्राम (पाँच इन्द्रियों के विषय) तथा परीषहरूपी सेना का विनाश करके (साधक) आराधनारूपी पताका को फहराता है।

(संसारतरण-कम्मनित्थरणोवएसो)

[1]मा य बहुं चिंतिज्जा 'जीवामि चिरं मरामि व लहुं' ति ।
जइ इच्छसि तरिउं जे संसारमहोयहिमपारं ॥१३५॥

जइ इच्छसि [2]नित्थरिउं सव्वेसिं चेव पावकम्माणं ।
जिणवयण-नाण-दंसण-चरित्तभावुज्जुओ [3]जग्ग ॥१३६॥

(आराहणाए भेया तप्फलं च)

दंसण-नाण-चरित्ते तवे य आराहणा चउक्खंधा ।
[4]सा चेव होइ तिविहा उक्कोसा१ मज्झिम२ जहन्ना३ ॥१३७॥

आराहेऊण विऊ उक्कोसाराहणं[5] चउक्खंधं ।
कम्मरयविप्पमुक्को तेणेव भवेण सिज्झेज्जा ॥१३८॥

आराहेऊण विऊ जहन्नमाराहणं[6] चउक्खंधं ।
सत्तऽट्ठभवग्गहणे परिणामेऊण सिज्झेज्जा ॥१३९॥

(सव्वजीवखामणा)

सम्मं मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।
खामेमि [7]सव्वजीवे, खमामऽहं सव्वजीवाणं ॥१४०॥

(धीरमरणपसंसा)

धीरेण वि मरियव्वं काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं ।
दोण्हं पि य मरणाणं वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥१४१॥

(पच्चक्खाणपालणाफलं)

एयं पच्चक्खाणं अणुपालेऊण सुविहिओ सम्मं ।
वेमाणिओ व देवो हविज्ज अहवा वि सिज्झेज्जा ॥१४२॥

॥ [8]महापच्चक्खाणपइण्णयं सम्मत्तं ॥

---

१. माऽऽया । हु व चि° सा० । २. निप्फिडिउं सं० । ३. जग्गे पु० । ४. सच्चेव पु० । ५–६. °हणा चउक्खंधा सं० । ७. °व्वजीवाणं ख° पु० । ८. °क्खाणं स° सं० ।

(संसारतरन और कर्म निस्तारण उपदेश)

(१३५) (हे समाधिमरण के इच्छुक साधक !) यदि तू संसाररूपी महासागर से पार होने की इच्छा करता है तो यह विचार मत कर कि "मैं चिरकाल तक जीवित रहूँ अथवा शीघ्र ही मर जाऊँ ।"

(१३६) (हे साधक !) यदि तू समस्त पापकर्मों से छुटकारा पाने की इच्छा रखता है तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र और जिनवचन के प्रति निष्कपट भाव से जागृत रह ।

(आराधना के भेद और उसके फल)

(१३७) दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप (की अपेक्षा से) आराधना चार प्रकार की है । वह भी उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य—इस भेद से तीन प्रकार की होती है ।

(१३८) चारों आराधना स्कन्धों की उत्कृष्ट साधना करके विज्ञ साधक कर्म-रज से विमुक्त हो, उसी भव में मुक्त हो जाता है ।

(१३९) (जो) विज्ञ साधक चारों आराधना स्कन्धों की जघन्य साधना करता है, (वह) सात-आठ भव ग्रहण करके शुद्ध परिणमन कर मुक्त हो जाता है ।

(सर्व जीव क्षमापना)

(१४०) समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है, किसी से भी मेरा वैर नहीं है । मैं समस्त जीवों को क्षमा करता हूँ, समस्त जीव मुझको क्षमा करें ।

(धीरमरण प्रशंसा)

(१४१) धैर्यवान् के द्वारा भी मरा जाता है और कायर पुरुष के द्वारा भी अवश्य मरा जाता है । इन दोनों ही मरणों में से धीरतापूर्वक मरना (अर्थात् समाधिभाव से मरना) निश्चय ही उत्तम है ।

(प्रत्याख्यान पालन का फल)

(१४२) इस प्रत्याख्यान का सम्यक् प्रकार से पालनकर संयमी साधक या तो वैमानिक देव होंगे या सिद्ध होंगे ।

१ परिशिष्ट

महाप्रत्याख्यान प्रकीर्णक में प्रयुक्त विशिष्ट शब्द

आराधना— अतिचार (दोष) न लगाते हुए निर्दोष साधना का प्रतिसेवन/प्रतिपालन करना आराधना है। आराधना के तीन भेद हैं[१]—(१) ज्ञान आराधना, (२) दर्शन आराधना और (३) चारित्र आराधना।

दिगम्बर साहित्य के अनुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यग्चारित्र व सम्यग्तप–इन चारों का यथायोग्य रीति से उद्योतन करना, उनमें परिणति करना, उनको दृढ़तापूर्वक धारण करना, उनके मन्द पड़ जाने पर पुनः पुनः जागृत करना और उनका आजीवन पालन करना आराधना है।[२] इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में ज्ञान, दर्शन और चारित्र के साथ तप को भी आराधना की श्रेणी में सम्मिलित किया गया है।

आलोचना— प्रतिक्षण उदित होने वाले कषायों के कारण साधक की आस्था एवं चरित्र में ज्ञात एवं अज्ञात–दोनों प्रकार के दोष आते हैं, जीवन-शोधन के लिए उनको दूर करना अत्यावश्यक है। इसके लिए आलोचना सबसे उत्तम मार्ग है। आचार्य, गुरु या वरिष्ठजनों के समक्ष निष्कपट भाव से अपने छोटे एवं बड़े सभी दोषों को प्रकट कर देना आलोचना है।[३]

आहार— आगमों में मनुष्यों के चार प्रकार के आहार का उल्लेख मिलता है[४]—(१) अशन, (२) पान, (३) खाद्य और (४) स्वाद्य।

---

१. (क) स्थानांग ३/४/४३४, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६२-६३।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० २८४।

३. वही, भाग १, पृ० २९०।

४. स्थानांग, ४/४/५१२।

इन्द्रियग्राम— पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी वासनाओं को इन्द्रियग्राम कहा जाता है।

उपधि— परिग्रहीत या संचित वस्तु उपधि है। सामान्यतया परिग्रह को उपधि कहा जाता है। उपधि तीन प्रकार की हैं[1]—(१) कर्म उपधि, (२) शरीर उपधि और (३) वस्त्र-पात्र आदि बाह्य उपधि।

दिगम्बर परम्परानुसार उपधि दो प्रकार की कही गई हैं[2]—(१) बाह्य उपधि, यथा—पीछी, कमण्डलु आदि और (२) आभ्यन्तर उपधि, यथा—क्रोध, मान, माया, लोभादि।

कर्म— मिथ्यात्व कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म के आठ भेद हैं[3]—(१) ज्ञानावरणीय कर्म, (२) दर्शनावरणीय कर्म, (३) वेदनीय कर्म, (४) मोहनीय कर्म, (५) आयु कर्म, (६) नाम कर्म, (७) गोत्र कर्म और (८) अन्तराय कर्म।

कषाय— जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करते हैं अर्थात् कर्ममल से मलीन करते हैं, वे कषाय हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिससे जीव पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है।[4] कषाय मुख्य रूप से चार हैं[5]—(१) क्रोध कषाय, (२) मान कषाय, (३) माया कषाय और (४) लोभ कषाय।

गर्हा— पंचपरमेष्ठी के समक्ष आत्मसाक्षीपूर्वक जो रागादि भावों का त्याग है, वह गर्हा है। भूतकाल में किये गये पापों की निन्दा करना भी गर्हा है। वस्तुतः गर्हा प्रायश्चित

---

१. स्थानांग, ३/१/९४।
२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १, पृ० ४५५।
३. (क) स्थानांग, २/४/४२४, (ख) प्रज्ञापना २३/१,
(ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ३, पृ० ४४-४५।
४. देखिए—अभिधान राजेन्द्र कोश, खण्ड ३, पृ० ३९५।
५. (क) स्थानांग, ४/१/७५, (ख) समवायांग ४/२०, (ग) प्रज्ञापना, २८/७, (घ) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० २६९, (ङ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ३३, (च) व्याख्याप्रज्ञप्ति, १/३।

की पूर्व भूमिका है। गर्हा चार प्रकार की कही गई हैं[1]—(१) उपसम्प्रदायरूप गर्हा, (२) विचिकित्सारूप गर्हा, (३) मिच्छामिरूप गर्हा और (४) एवमपिप्रज्ञप्ति-रूप गर्हा।

गारव— गारव का अर्थ अहंकार है। गारव (अहंकार) तीन प्रकार के कहे गये हैं[2]—(१) ऋद्धि-गौरव, (२) रस-गौरव और (३) साता-गौरव।

दिगम्बर साहित्य में भी गारव तीन कहे गये हैं[3] किन्तु वहाँ रस गारव नहीं होकर शब्द गारव है। पुनः उनके क्रम में भी भिन्नता है—(१) शब्द गारव (२) ऋद्धि गारव और (३) सात गारव।

गुप्ति— गुप्ति शब्द गोपन से बना है, जिसका अर्थ है—खींच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढँकने वाला या रक्षा-कवच भी है। प्रथम अर्थ के अनुसार मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना गुप्ति है, और दूसरे अर्थ के अनुसार आत्मा की अशुभ से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं[4]—(१) मनो गुप्ति, (२) वचन-गुप्ति और (३) काय-गुप्ति।

चौरासी लाख योनि— श्वेताम्बर परम्परानुसार सात लाख पृथ्वीकाय, सात लाख अप्काय, सात लाख तेजस्काय, सात लाख वायुकाय, दस लाख प्रत्येक-वनस्पतिकाय, चौदह लाख साधारण वनस्पति, दो लाख द्वीन्द्रिय, दो लाख त्रीन्द्रिय, दो लाख चतुरेन्द्रिय, चार लाख देवता, चार लाख नारकी, चार लाख तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और चौदह लाख

---

१. स्थानांग, ४/२/२६४।

२. (क) स्थानांग ३/४/५०५, (ख) समवायांग ३/१५, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० ७०।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० २३९।

४. (क) समवायांग ३/१५, (ख) उत्तराध्ययन २४/१-२, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० १६, (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० २४८।

मनुष्य योनि। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि हैं।[1]

दिगम्बर परम्परानुसार नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक —इन छहों स्थानों में प्रत्येक में सात-सात लाख योनि, प्रत्येक वनस्पति में दस लाख योनि, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरेन्द्रिय-प्रत्येक में दो-दो लाख योनि, देव, नारकी और तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय—प्रत्येक में चार-चार लाख योनि तथा मनुष्यों में चौदह लाख योनियाँ होती है। इस प्रकार कुल चौरासी लाख योनि हैं।[2]

ध्यान— चित्तवृत्तियों का किसी एक विषय पर काल विशेष तक केन्द्रित रहना ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का है[3]— (१) आर्त ध्यान, (२) रौद्र ध्यान, (३) धर्म ध्यान और (४) शुक्ल ध्यान।

प्रशस्त और अप्रशस्त इस भेद से ध्यान दो प्रकार का है। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान—ये दोनों ध्यान प्रशस्त ध्यान हैं तथा आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान—ये दोनों ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं।

प्रत्याख्यान— यावज्जीवन या सीमित समय के लिए भविष्य में किसी क्रिया को न करने की प्रतिज्ञा करना ही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान कई प्रकार का है। स्थानांगसूत्र में निम्न पाँच प्रकार के प्रत्याख्यानों का उल्लेख उपलब्ध होता है[4]—(१) श्रद्धानशुद्ध-प्रत्याख्यान, (२) विनयशुद्ध-प्रत्याख्यान, (३) अनुभाषणाशुद्ध-प्रत्याख्यान, (४) अनुपालना-शुद्ध-प्रत्याख्यान, (५) भावशुद्ध-प्रत्याख्यान।

भय— सामान्यतया भावी अहित की आशंका को भय कहते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टि से मोहनीय कर्म की प्रकृति विशेष के

---

१. श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र, पृ० ६६।

२. गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ८९।

३. (क) स्थानांग ४/१/६०, (ख) समवायांग ४/२०, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृ० १९३-१९४, (घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २, पृ० ४९४।

४. स्थानांग ५/३/२२१।

उदय से पैदा हुए आत्मा के परिणाम विशेष को भय कहते हैं। भय सात प्रकार के हैं[1]—(१) इहलोक भय, (२) परलोक भय, (३) आदान भय, (४) अकस्मात् भय, (५) वेदना भय, (६) मरण भय और (७) अश्लोक भय।

सात भयों का उल्लेख समवायांगसूत्र में भी उपलब्ध होता है। किन्तु यहाँ पाँचवा भय मरण भय न होकर आजीव भय कहा गया है शेष छह भयों के नाम एवं क्रम स्थानांगसूत्र के समान ही है।[2]

यद्यपि दिगम्बर साहित्य में भी सात भयों का उल्लेख मिलता है, किन्तु उनके नाम एवं क्रम श्वेताम्बर साहित्य से भिन्न है। दिगम्बर साहित्य में उल्लेखित सात भय इस प्रकार हैं[3]—(१) इहलोक (२) परलोक (३) अरक्षा (४) अगुप्ति (५) मरण (६) वेदना और (७) आकस्मिक भय।

मद— जाति आदि का अहंकार करना अथवा हर्ष और आवेश में उन्मत्त होना मद है।

मद आठ प्रकार के कहे गए हैं[4]—(१) जातिमद (२) कुलमद (३) बलमद (४) रूपमद (५) तपोमद (६) श्रुतमद (७) लाभमद और (८) ऐश्वर्यमद।

दिगम्बर साहित्य में भी संख्या की दृष्टि से तो मद आठ ही कहे गए हैं, किन्तु उनके नाम एवं क्रम भिन्न हैं। दिगम्बर साहित्य में उल्लेखित आठ मद इस प्रकार हैं[5]—(१) विज्ञान (२) ऐश्वर्य (३) आज्ञा (४) कुल (५) बल (६) तप (७) रूप और (८) जाति मद।

---

१. (क) स्थानांग, ७/२७, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग २, पृ० २६८।
२. समवायांग ७/३७।
३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० २१७।
४. (क) स्थानांग ८/२१, (ख) समवायांग ८/४४।
५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ २७०।

मरण— आयु का क्षय होना ही मरण है। मरण कई प्रकार का कहा गया है।[1]

माया — किसी भी बात को छिपाने की चेष्टा करना अथवा कपटवृत्ति माया है। दूसरे शब्दों में आत्मा का कुटिल भाव माया है। माया पाँच प्रकार की हैं[2]—(१) निकृति (२) उपधि (३) सातिप्रयोग (४) प्रणिधि और (५) प्रतिकुञ्चन।

समवायांगसूत्र[3] में माया के सोलह नामों का तथा व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र[4] में माया के पन्द्रह नामों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

म्लेच्छ— अनार्य जाति के मनुष्यों को म्लेच्छ मनुष्य भी कहा जाता है। वाचक श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना सूत्र नामक चतुर्थ उपांग ग्रन्थ में कई अनार्य जातियों का नामोल्लेख किया है।[5] यथा—

शक, यवन, किरात, शबर, बर्बर, काय, मरूण्ड, उड्ड, भण्डक (भडक), निन्नक (निण्णक), पक्कणिक, कुलाक्ष, गोंड, सिंहल, पारस्य (पारसक), आन्ध्र (क्रौंच), उडम्ब (अम्बडक), तमिल (दमिल-द्रविड़), चिल्लल (चिल्लस या चिल्लक), पुलिन्द, हारोस, डोंब (डोम), पोक्काण (वोक्काण), गन्धाहरक (कन्धारक), बहलीक (बाल्हीक), अज्जल (अज्झल), रोम, पास (मास), प्रदुष (प्रकुष), मलय (मलयाली), चंचूक (बन्धुक), मूयली (चूलिक), कोंकणक, मेद (मेव), पल्हव, मालव, मग्गर (मग्गर), आभाषिक, णक्क (कणवीर), चीना, ल्हासिक (लासा के), खस, खासिक (खासी जातीय), नेडूर (नेदूर), मंढ (मोंढ), डोम्बिलक, लओस, बकुश, कैकेय,

---

१. (क) स्थानांग ३/४/५१९, (ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ २९०-२९१।

२. वही, भाग ३ पृष्ठ ३०७।

३. समवायांग ५२/२८४।

४. व्याख्याप्रज्ञप्ति १२/५।

५. प्रज्ञापना १/९८।

अरबाक (अक्खाग), हूण, रोसक (रूसवासी या रोमक), मरूक, रूत, (भ्रमररूत) और विलास (चिलात) देशवासी आदि।

लेश्या— जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उसको लेश्या कहते हैं। लेश्या छह प्रकार की हैं[1]—(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या।

शुभ और अशुभ के भेद से लेश्या दो प्रकार की कही गई हैं। तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीनों लेश्या शुभ लेश्या हैं तथा कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों लेश्या अशुभ लेश्या हैं।

लोक— धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त सम्पूर्ण द्रव्यों के आधार रूप चौदहराजूपरिमाण आकाश खण्ड को लोक कहते हैं। सम्पूर्ण लोक के तीन भेद हैं[2]—(१) ऊर्ध्वलोक (२) अधोलोक और (३) तिर्यक् लोक। एक अन्य भेद से लोक चार प्रकार का है[3]—(१) द्रव्यलोक (२) क्षेत्रलोक (३) काललोक और (४) भावलोक।

वालाग्रकोटि— बाल के अग्रभाग के करोड़ों खण्ड करने पर जो उसका एक खण्ड होता है, उसे वालाग्रकोटि कहते हैं। दूसरे शब्दों में वालाग्रकोटि अत्यन्त सूक्ष्म प्रदेश का सूचक है।

विषय— विषय ज्ञेय को कहते हैं। श्वेताम्बर साहित्यानुसार शब्द के तीन, रूप के पाँच, गन्ध के दो, रस के पाँच और स्पर्श के आठ भेद हैं। इस प्रकार पाँच इन्द्रियों के कुल तेईस विषय हैं।[4] किन्तु दिगम्बर साहित्य के अनुसार

---

१. (क) स्थानांग ३/१/५८, (ख) समवायांग ६/३१, (ग) उत्तराध्ययन ३४/३, (घ) प्रज्ञापना १७/२, २८/४, (ङ) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग २, पृष्ठ ७०-७७, (च) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ४३६।

२. (क) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४५-४६, (ख) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ४५६।

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति ११/१०/२।

४. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृष्ठ १७५।

पाँच रस, पाँच वर्ण, दो गन्ध, आठ स्पर्श और सात स्वर—ये सत्ताईस भेद पाँचों इन्द्रियों के विषयों के और एक भेद मन का अनेक विकल्प रूप विषय है।[1] इस प्रकार दिगम्बर परम्परानुसार विषय कुल अट्ठाईस हैं।

शल्य— जिससे पीड़ा होती हो, उसे शल्य कहते हैं। शल्य के तीन भेद कहे गये हैं[2]—(१) माया शल्य (२) निदान शल्य और (३) मिथ्यादर्शन शल्य।

संयोग सम्बन्ध— संयोग सम्बन्ध दो प्रकार का कहा गया है[3]—
(१) देशप्रत्यासत्तिकृत संयोग सम्बन्ध और
(२) गुणप्रत्यासत्तिकृत संयोग सम्बन्ध

संस्तारक— संस्तारक का सामान्य अर्थ बिस्तर, शय्या अथवा बिछौना है, किन्तु विशेष अर्थ में संस्तारक उस शय्या को कहा जाता है जिसे समाधिमरण के अवसर पर साधक ग्रहण करता है। संस्तारक चार प्रकार के कहे गये हैं[4]—(१) पृथ्वी (२) शिला (३) फलक और (४) तृण।

समिति— संयम की साधक प्रवृत्ति या यतनापूर्वक की जाने वाली प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समितियाँ पाँच हैं[5]—(१) ईर्या (गमन) समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा (याचना) समिति (४) आदान-भण्ड-पात्र निक्षेपण समिति और (५) उच्चारप्रस्रवण-खेल-सिंघाण-जल्ल प्रतिस्थापनिका समिति।

उत्तराध्ययनसूत्र में अन्तिम दोनों समिति के नामों में शाब्दिक भिन्नता है। वहाँ चौथी समिति आदान

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ ५७८।
२. (क) स्थानांग ३/३/३८५, (ख) समवायांग ३/१५,
(ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७३,
(घ) जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ २६।
३. वही, भाग ४, पृष्ठ १४२।
४. वही, भाग ४, पृष्ठ १५४।
५. (क) स्थानांग ५/३/४५७, (ख) समवायांग ५/२६, (ग) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३३०-३३१।

समिति है तथा पाँचवीं समिति उच्चार समिति है।[१]

दिगम्बर साहित्य में भी पाँच समितियों का उल्लेख है। वहाँ भी अन्तिम दोनों समिति के नामों में श्वेताम्बर साहित्य से आंशिक भिन्नता है। वहाँ चोथी समिति आदान निक्षेपण समिति और पाँचवीं समिति प्रतिस्थापन समिति कही गई है।[२]

सिद्ध— ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष में जानेवाले जीव सिद्ध कहलाते हैं।[३]

●

१. उत्तराध्ययन २४/१-२।

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ३४०।

३. (क) प्रज्ञापना, पद १, (ख) श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ५, पृष्ठ ११७।